स्वदेश और साहित्य

[शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय]

रूपान्तरकार

डॉ० महादेव साहा

प्रकाशक—
श्रोम्प्रकाश बेरी,
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
पो० ब० नं० ७०,
ज्ञानवापी, बनारस।

प्रथम जनसंस्करण
नवम्बर, १९५४
मूल्य ।।।≡)।।

मुद्रक—
श्रीकृष्णचन्द्र बेरी,
विद्यामन्दिर प्रेस, लि०
मानमन्दिर, बनारस।

निवेदन

शरत्चन्द्र एशिया के केवल क्रान्तदर्शी कथाकार मात्र ही नहीं भारतीय लोकजीवन के मेधावी प्रतिभासम्पन्न, चिन्तनशील महापुरुष भी थे। उन्होंने समय-समय पर भाषणों द्वारा तथा निबंधों द्वारा साहित्य को अपने विचारों से सम्पन्न किया है। उनकी विचारधारा लोक-मंगल की विधायिनी तो है ही, साथ ही साहित्य के चिन्तकों के लिये भी अमूल्य सम्पत्ति के समान है। उनके कथा-साहित्य का हिन्दी में जितना आदर हुआ, सभवत: अन्य किसी साहित्यकार का नहीं। यह बात स्वयं उनके गौरव का आख्यान कर लेती है।

बहुत दिनों से उनकी साहित्यिक विचारधारा को हिन्दी में प्रस्तुत देखने के लिए हम प्रयत्नशील थे। आवश्यकता इस बात की थी कि कोई सुयोग्य अनुवादक हमें मिले। संयोग से डॉ० महादेव साहा जैसे भारतीय भाषाओं के महान् पंडित का सहयोग इस सुकार्य के लिये हमें प्राप्त हुआ, यह गौरव की बात है। उनके जैसा अधिकारी विद्वान इस कृति का रूपान्तरकार है तथा संपादक है, यह तथ्य इस कृति की प्रामाणिकता का प्रमाण है।

हम बहुत दिनों से यह भी सोचते थे कि ऐसा सुलभ साहित्य प्रकाशित करें कि हिन्दी में सस्ते प्रकाशन की परम्परा आरंभ हो तथा इस कार्य के लिये अधिकारी विद्वानों तथा साहित्यकारों का हमें सहयोग प्राप्त हो। इस कार्य के लिये हमने यह उचित समझा कि कम से कम मुनाफा लेकर या लागत मूल्य पर सस्ती से सस्ती पुस्तकें निकाली जायें। इसका उदाहरण मार्च ही में हमने हिन्दी साहित्य जगत् के सम्मुख उपस्थित किया और कहना न होगा कि

जितने व्यापक रूप से हमारे इस कृतित्व का स्वागत हिन्दी जगत् ने किया, उतना स्वागत अन्य किसी कृति का नहीं हो सका ।

यह पुस्तक भी मंगल की उसी भावना से प्रकाशित की जा रही है ।

हम इसके विद्वान रूपान्तरकार को हृदय से धन्यवाद देते है कि उसने इस पुण्य कार्य में हमें योग दे अपनी महानता का परिचय दिया है । आशा ही नहीं, विश्वास है कि हिन्दी जगत का सहयोग ऐसे वास्तविक सत्साहित्य के प्रकाशनों में हमें सदैव प्राप्त होता रहेगा ।

—प्रकाशक

स्वदेश और साहित्य

अपनी बात

मैं हवड़ा जिले की कांग्रेस कमटी का सभापति था। मैंने तथा मेरे सहकारी या सहकर्मी सभी ने इस्तीफा दे दिया है और यह सूचित करने के लिये ही आज की सभा बुलायी गयी है। साडम्बर भाषण सुनाने के लिये आप लोगोंको जमा नहीं किया ह। भारत की राष्ट्रीय महासभा की इस छोटी सी शाखा का कार्यभार मेरे ऊपर था। उससे विदा लेते समय आप लोगों के सामने मुक्त कंठ से उसका कारण प्रकट करना ही इस सभा का उद्देश्य है। एक बात उठी थी कि चुपचाप हट जाने से ही तो काम हो जाता है। इस लज्जाकर घटना को ससमारोह प्रकट करने की क्या आवश्यकता थी? मुझे लगता है, आवश्यकता है। चुपचाप हट जाने से लोक लज्जा से बच जरूर जाता। लेकिन, उससे वास्तविक लज्जा चौगुनी हो उठती। इसके बाद इस जिले में कांग्रेस कमेटी रहेगी या नहीं, मैं नहीं जानता। रह सकती है और न रहना भी असम्भव नहीं, लेकिन जो कुछ भी हो, जिसके भीतर क्षत है, बाहर से उसे अक्षत दिखाने का पाप मैं नही करना चाहता। यह एक पालिसी हो सकती है, लेकिन अच्छी पालिसी है, यह मैं सोच ही नहीं सकता।

मैं कर्मी नहीं हूं, इस गुरुभार के योग्य मैं नहीं था, अक्षमता का क्षोभ मेरे मन में है भी। लेकिन जिस भार को मैंने एक दिन ग्रहण किया था, आज उसे अकारण ही या निरे स्वार्थ से छोड़कर जा रहा हूं, जाने के समय यह कलंक भी मै नही लेना चाहता। मेरी इस बात को ही आज आप लोगों को जरा धैर्य के साथ सुनना होगा।

मेरे मन में शायद कहीं रूखी या कर्कश बात थोड़ी-सी रह सकती है, हो सकता है कि मेरे अभियोग में अप्रिय स्वर ही आप लोगों को सुनाई पड़े। लेकिन लोगों की वर्तमान अवस्था में मैंने जो सत्य जाना है या समझा है, उसे आप लोगों को बतलाये बगैर आज मुझे छुट्टी नहीं मिल सकती। कारण यह है कि सत्य को छिपाना आत्म-प्रवंचना के ही समान है। पहिली आशंका है विरोधियों के उपहास और विद्रूप की। लेकिन अपने कर्म फल से अगर उसी का अर्जन किया है तो मुझको छोड़कर उसे कौन लेगा और यदि ऐसा नहीं हुआ है, व्यंग का कारण अगर सचमुच ही नहीं है, तो डर किस बात का। यथार्थ सम्मान की वस्तु पर जो मूढ़ अकारण ही व्यंग करता है, सारी लज्जा तो उसी के लिये है। अतएव इस प्रकार की झूठी दुश्चिन्तायें मेरे अन्दर नही है। एक मात्र चिन्ता है निष्कपट रूप से आप लोगों के सामने व्यक्त करने की। क्योंकि प्रतिकार की इच्छा और शक्ति आप ही लोगों के हाथों में है। इस अन्तिम मुहूर्त में अगर इसे मृत्यु के हाथों से बचाना चाहते हैं तो यह आप ही लोगों से हो सकता है।

पंजाब हत्याकांड के कारण डेढ़ वर्ष पूर्व जब देशव्यापी आन्दोलन तीव्र हो उठा था; तब हमने गगनभेदी स्वरों में स्वराज्य की मांग की थी। गला फाड़कर महात्मा जी की जयजयकार करके प्रचार किया था कि स्वराज्य तो चाहिये ही। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और बिना स्वराज्य के किसी भी अन्याय का सम प्रतिकार नही हो सकता। बात मूलतः सत्य है, इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। यथार्थ ही स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, भारत का शासन-भार भारतीयों के हाथ में ही रहना चाहिए और इस जिम्मेदारी से जो वंचित करता है वह अन्यायी है। यह सारी बातें सत्य हैं। लेकिन इस तरह की एक बात और भी तो है, जिसे स्वीकार करने के सिवा चारा नहीं। वह है हमारा कर्त्तव्य।

अधिकार और कर्त्तव्य यह दोनों परिपूरक शब्द तो विधि-विधानों की प्रारम्भिक चीज हैं। सामाजिक विधान में एक के बगैर दूसरा क्षण भर भी नहीं टिक सकता, यह भी अविसम्वादी सत्य है। क्या केवल हमारे ही देश में इस विश्व नियम का अपवाद होगा। स्वराज्य या स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, तो मातृगर्भ से भूमिष्ठ होते समय हम कर्त्तव्य का दाय भाग भी उतनी ही मात्रा में पाते हैं। एक से कन्नी काट कर दूसरे को पायेंगे इतना बड़ा अन्याय, ऐसी असंगत मांग, इतना बड़ा पागलपन दूसरा नहीं हो सकता। घटना क्रम से केवल भारतीय होकर जन्म लेने के कारण ही भारत की स्वतन्त्रता की जोरों से मांग करना किसी भी दशा में सत्य नहीं हो सकता। और इस प्रार्थना को अंग्रेज ही क्यों, स्वयं विधाता भी शायद मंजूर नहीं कर सकते। इस सत्य को इस सनातन विधि को, इस चिन्तन व्यवस्था को तहेदिल से हृदयंगम करने का दिन आ गया है। इसे धोखा देकर, हमी क्यों, संसार में किसी ने स्वतन्त्रता का अधिकार न कभी प्राप्त किया है और मेरा विश्वास है, कि न कभी प्राप्त ही कर सकता है। कर्त्तव्यहीन अधिकार भी अनधिकार के बराबर है। 'काम नहीं करूंगा, मूल्य नहीं, दूंगा फिर भी पाऊंगा' प्रार्थना की इस विचित्र धारा को अगर हमने ग्रहण किया है तो निश्चित रूप से कहता हूं कि केवल वन्देमातरम् और महात्मा की जय बोलने से केवल गला फटेगा। पराधीनता की शिला केवल उतने से सुई भर भी नहीं हिलेगी।

धृष्टता का आरोप स्वीकार करके भी कहना पड़ रहा है कि वृद्धा हो जाने पर भी पुरानी आदत के कारण इन आँखों की ज्योति आज भी बिलकुल धंधली नहीं हो गयी है। कम से कम इस हवड़ा जिले में जो देखा है वही बताता हूँ: निरी भीख माँगना, दाम न देकर माँगना, रस्म-रिवाज आहार-विहार, आमोद-प्रमोद सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं में कोई अन्तर न पड़े, बाल र भी इधर

से उधर न होने पाये, यह सब तो है ही; इसके बाद स्वराज्य कहो, स्वतंत्रता कहो, चरखा कहो, खद्दर कहो, अंग्रेजों को सात समुद्र भगाने की बात कहो, कुछ भी हो, कोई आपत्ति नहीं : आपत्ति उन्हें तो नहीं हो सकती, अंग्रेजों को है। पंचानवे फीसदी लोगों की इस हास्यास्पद माँग को अगर अंग्रेज हँसकर उड़ाते हुये कहता है कि भारतवासी स्वराज्य नहीं चाहते तो क्या यह बात झूठ होगी। जिस अंग्रेज ने संसार भर म राज्य विस्तार किया है, स्वदेश के लिये प्राण देने में वह क्षण भर भी आगा-पीछा नहीं करता, वह स्वतंत्रता के स्वरूप को जानता है और पराधीनता की जंजीर को मजबूत करने का कौशल उससे बढ़कर कोई नहीं जानता। क्या केवल धोखे-धड़ी से, आँख दिखाकर, मुंह और कलम से गाली देकर, अंग्रेज जाति की भूल-चूकों के बहुतेरे प्रमाण मो` अक्षरों में छापकर, उसे लज्जित करके स्वराज्य जैसी बड़ी वस्तु मिलेगी ?

बस, आत्मप्रवंचना बहुत हुई। जड़ की तरह निश्चल होकर जन्मसिद्ध अधिकार माँगने के लिये मरा कंठ अब नहीं फूटता। दूसरे के मुँह से तत्व की बातें सुनने का धैर्य मुझमें अब नहीं है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि स्व ंत्रता का जन्मसिद्ध अधिकार अगर किसी को है तो वह मनुष्यत्व को है, मनुष्य को है। अंधकार के बीच आलोक का जन्मसिद्ध अधिकार है, दीपशिखा को, दीप को नहीं। बुझे हुये दीपक की यह माँग उठाकर हंगामा मचाना केवल व्यर्थ ही नहीं है, अपराध भी है। सभी माँगों को उठाने के पहिले इस बात को भूल जाने से केवल अंग्रज ही नहीं सारे संसार के लोग हमारी खिल्ली उड़ायेंगे।

महात्मा जी आज कारागार में हैं, उनके कारावास के पहिले दिन मारकाट नहीं मच गई, सारा हिन्दुस्तान शांत रहा। देशके लोगों ने गर्व के साथ कहा कि यह केवल महात्मा जी की शिक्षा

का फल है, फिरंगी अखबार वालों ने हँसकर जवाब दिया कि यह केवल उदासीनता है। इस विवाद से मुझे भी पक्षका प्रतिवाद करने की इच्छा नहीं होती, लगता है कि अगर हुआ भी है, तो देशके लोगों के लिये इसमें गर्व की कौन-सी बात है! संगठित हिंसा करने की हममें शक्ति नहीं, प्रवृत्ति नहीं, अवसर नहीं; और हठात् हिंसा, वह तो केवल एक आकस्मिकता का फल है। हम जो इतने भद्र व्यक्ति एकत्र हुए हैं, उपद्रव करना उनमें से किसी का पेशा नहीं है। लेकिन इस बात को भी तो कोई दावे के साथ नहीं कह सकता कि हम घर लौटने के रास्ते में अचानक कुछ कर नहीं सकते। साथ ही साथ एक बड़ा फसाद शुरू हो जाना भी असंभव नहीं। नहीं हुआ अच्छा ही हुआ और मैं भी इसे तुच्छ नहीं करना चाहता। लेकिन इस बात को लेकर उछल-कूद मचाने के लिये कोई कारण नहीं है। इसी को बहुत बड़ा काम समझकर संतोष करना आत्मप्रवंचना है और उदासीनता। इस बात से अगर कोई इस दिशा में संकेत करता है कि महात्मा जी को जेल में भेजे जाने से देश के लोगों को गंभीर पीड़ा नहीं है, तो इससे बढ़कर झूठ दूसरा नहीं हो सकता। हमें मर्मान्तक पीड़ा हुई है। लेकिन उसे चुपचाप सहना ही हमारा स्वभाव है, प्रतिकार की कल्पना हमारे मनमें नहीं आती।

किसी प्रियतम परम आत्मीय के यमलोक सिधारने से शोकार्त मन जिस तरह निरुपाय होकर वेदना से आँसू बहाता है, पर जो अवश्यंभावी है उसके विरुद्ध क्या किया जा सकता है, यह कहकर मन को समझा-बुझाकर, फिर खाना-पीना, आमोद-प्रमोद, हंसी-मजाक काम-काज यथा रीति पहल की ही तरह चलने लगता है, महात्मा के बारे में देश के लोगों का मनोभाव प्रायः उसी तरह का है। उनका गुस्सा जा पड़ा जज साहब के ऊपर। किसी ने कहा, उनके

प्रशंसा वाक्य केवल ढोंग हैं। किसी ने कहा—उन्हें दो साल का जेल देना चाहिये था। किसी ने कहा—अधिक से अधिक तीन साल, किसी ने कहा नहीं चार साल। लेकिन जब छह साल की सजा हो गई तो क्या किया जाय, अब अगर सरकार दया करके कुछ पहले छोड़ दे तो ठीक है। लेकिन इस बात को सोचकर वह जेल नहीं गये। उनके दिल की इच्छा थी ही छह साल की सजा हो या दस साल की सजा, उन्ह छुड़ाना तो देश के लोगों के हाथ में है। जिस दिन वे चाहेंगे, उससे एक भी दिन अधिक उन्हें कोई जेल में नहीं रख सकता, चाहे वह गवर्नमेण्ट कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो। लेकिन यह आशा अकेली उन्हीं को थी। देश के लोगों को यह भरोसा करने की हिम्मत नहीं हुई। रुपये कमाने से लेकर आहार, निद्रा आदि तक अबाध गति से चलती रही। उनके क्षुद्र स्वार्थ में कहीं जरा भी विघ्न नहीं हुआ, केवल वह और उनके पच्चीस हजार सहकर्मी देश के काम के लिये जेल में सड़ने लगे। प्रतिकार कौन करता, इतनी बड़ी हीनता से लज्जित होने की शक्ति भी शायद इनमें नहीं रही। ये बुद्धिमान हैं, बुद्धि की विडम्बना से ही इन्होंने बहाना निकाला—अहिंसा क्या सम्भव है? असहयोग क्या चल सकता है? गांधीजी का आन्दोलन क्या व्यावहारिक है? इसीलि` तो हम असफल हैं। लेकिन इन्हें कौन समझाये कि कोई भी आन्दोलन कुछ नहीं है, जो आन्दोलन करता है वह मनुष्य ही सब कुछ है। जो मनुष्य है उसके लिये सहयोग, असहयोग, हिंसा, अहिंसा सभी समान हैं, सभी समान फलप्रद है। असहयोग नामक वस्तु भीख मांगना नहीं है, वह एक काम हैं। अतएव यह बात किसी भी दशा में सच नहीं कि असहयोग इस देश में नहीं चल सकता, स्वतंत्रता प्राप्त करने का वह उचित रास्ता नहीं है। कम से कम आज भी ऐसे लोगों का एक

दल है, संख्या में वह कितनी ही कम क्यों न हों, जो तहे दिल से इसका विश्वास करता है। ये कौन हैं, जानते हो एक दिन जिन्होंने महात्मा जी के व्याकुल आह्वान को सुनकर देश के व्रत में जीवन उत्सर्ग किया था, वकील ने वकालत छोड़कर, शिक्षक ने अपना शिक्षण छोड़कर, विद्यार्थी ने अपना विद्यालय छोड़कर उन्हें चारों ओर से घेर लिया था। उनमे से अधिकांश आज जेल में हैं। ये उन्हीं के बचे-खुचे हिस्से हैं। देश के कल्याण के लिये, मेरे कल्याण के लिये, सारे नर-नारियों के कल्याण के लिये जिन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलाञ्जलि दे दी थी, देश के उन्हीं लोगों ने आज उन्हे क्या करार दिया है, जानते हैं आज वे सम्मान हीन, प्रतिष्ठाहीन, लांछित, पीड़ित, भिखमंगों के समूह हैं। उनके कपड़े फ` हुये हैं, वे गृहहीन हैं, वे भीख मांगकर गुजर करते हैं, तेल, नोन के थोड़े-से पैसे के लिये स्टेशनों पर भीख मांगने के लिये बाध्य होते हैं। पर वह स्वेच्छा से सब कुछ त्याग कर आये हैं। उन्हें जितने की आवश्यकता है उतना सारे देश के लिये कितना अकिंचित् कर है। उतना भी वे ससम्मान नही जुटा पाते, पर वे आज भी हृदय में स्वराज्य का आसन और देश के बाहर सारे भारत की श्रद्धा और सम्मान के झण्डे की रक्षा कर रहे हैं। आशा का दीप चाहे वह जितना भी क्षीण क्यों न हो, आज भी उन्हीं के हाथों में है। इनके निर्यातन की कहानी से अखबारों के पन्ने भरे पड़े हैं, लेकिन वह उस अव्यक्त लांछना और अपमान के सामने कितनी है, जिसे इन्हें देश के लोगों से सहना पड़ता है। महात्मा जी का आन्दोलन रहे या जाय, इन्हें अश्रद्धेय करने की तथा दीन, हीन और व्यर्थ बनाने के महापाप का प्रायश्चित देश के लोगों को एक दिन करना ही पड़ेगा, अगर न्याय और धर्म और यथार्थ विधान कहीं

रह गया है। हवड़ा जिले की ओर से अगर मैं आज मुक्त कंठ से कहूं कि कम से कम इस जिले के लोग स्वराज नहीं चाहते हैं तो इसका तीव्र प्रतिवाद होगा। अखबारों में मुझे कितनी ही कटूक्तियां, गाली-गलौज सुननी पड़ेगी, लेकिन फिर भी यह बात सत्य है। कोई कुछ न ीं करेंगे, कोई क्षति, कोई असुविधा, किसी तरह का साहाय्य नहीं देंगे। हम नपे-तुले सुनियंत्रित रहन-सहन से बाल भर भी इधर-उधर नहीं होंगे। हम रुपये पर रुपया, मकान पर मकान, मोटर पर मोटर, दो तल्ले, तीन तल्ला और उस पर चौतल्ला उठायेंगे। थोड़े बुद्धिभ्रष्ट आवारे लोग बिना खाये-पीये, खाली बदन, खाली पांव, घूम-फिरकर अगर स्वराज ला दे सकते हैं तो आंख मूंदकर बड़े आराम से उस रसगुल्ले को खाया जा सकता है; लेकिन इस तरह की बात कहीं कभी नहीं हो सकती। वास्तविक बात यह है कि ये इस बात पर विश्वास ही नहीं करते कि स्वराज कभी हो सकता है। तो इसके लिये फिर चेष्टा करने की कौन-सी जरूरत है, इससे क्या होगा, चरखे से क्या होगा, देशभक्ति की चर्चा से क्या होगा? बुझे हुए दीप शिखा की तरह मनुष्यत्व का अन्त हो गया है। हाथ पसारने की एक मात्र की चेष्टा के सिवा और क्या हो सकता है। एक नमूना दूँ।

उस दिन नारी कर्म-मंदिर की दो महिलाओं और श्री डा० प्रफुल्ल चंद्र राय महाशय को लेकर वर्षा और आँधी के बीच ही अमता इलाके में निकल पड़ा था। सोचा था ऋषितुल्य और देशपूज्य व्यक्ति को साथ लेन से यह यात्रा अच्छी रहेगी। रही भी। वंदेमातरम्, महात्मा जी की तथा उनकी अपनी प्रबल जय ध्वनि की कमी नहीं हुई। और उस दुर्बल मनुष्य को स्थानीय रायबहादुर के टूटे तामजाम के अन्दर जबरदस्ती बैठान का उद्यम हृदय से किया गया था। लेकिन इसके बाद का इतिहास संक्षेप में इस प्रकार है। हमारे जाने-आने में पचास रुपय

खर्च हुए, बारिश और तूफान में हमारी देखभाल में पुलिस के भी शायद इतन ही पये खर्च हो गये होंगे। उन्नतिशील स्थान वकील, मुख्तार और बहुतेरे धनी व्यक्तियों का निवास है। अतएव स्थानीय करघे और चरखे की उन्नति के लिये तीन रुपये पाँच आने चंदे का वचन मिला। इसके बाद आचार्यदेव ने बड़े परिश्रम के बाद आविष्कार किया कि दो वकील विलायती कपड़ा नहीं खरीदते। और एक ने उनके भाषण से मुग्ध होकर उसी क्षण प्रण किया है कि भविष्य में वह नहीं खरीदेंगे। लौटते वक्त रास्ते में प्रफुल्लचंद्र ने प्रफुल्ल होकर मेरे कानों में कहा कि हाँ जिला अवश्य ही उन्नतिशील है। और जरा लगे रहिये, भद्र अवज्ञा शायद आप लोग ही घोषित कर सकेंगे।

और जनता वह तो सर्वथा भले लोगों के ही पीछे चलती है।

यह चित्र दुःख का चित्र है वेदना का इतिहास और अंधकार की छबि। लेकिन क्या यही अन्तिम बात है, क्या इसी हालत को इस जिले के लोग चुपचाप शिरोधार्य कर लेंगे? किसी की कोई बात, किसी का कोई त्याग कोई कर्त्तव्य ही क्या दिखाई नहीं देगा। जिन लोगों ने देश की सेवा के लिये जीवन का उत्सर्ग किया है जो किसी भी प्रतिकूल अवस्था को स्वीकार नहीं करना चाहते, जिन्होंने सरकार के सामने भी पराभव स्वीकार नहीं किया है, क्या वे अन्त में देश के लोगों के सामने ही हार मानकर लौट जायेंगे? आप लोग क्या कोई खोज खबर नहीं लेंगे?

इसी प्रसंग में बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बात का उल्लेख करने की इच्छा थी, लेकिन अब लज्जा को अधिक नहीं बढ़ाना चाहता।

मुझे एक आशा है कि संसार की सारी शक्ति ही तरंग की गति से अग्रसर होती है। इसीलिए उनमें उत्थान है, पतन है। चलने की गति में जो आज नीचे पड़ा है कल वही ऊपर उठेगा, नहीं तो उसका चलना संपूर्ण नहीं होगा। पहाड़ गतिहीन और अचल हैं,

इसलिये उसकी चोटी एक जगह ऊँची रहती है, उसे झुकना नहीं पड़ता, लेकित हवा से आलोड़ित समुद्र की वह अवस्था नहीं है। उसमें चढ़ाव-उतार दिखाई पड़ता है। यह उसके लिये लज्जा की बात नहीं, यही उसकी गति का चिह्न है, उसकी शक्ति की धारा है। वह तभी ऊँचा रहना चाहता है जब जमकर बर्फ हो जाता है। उसी तरह हमारा यह आन्दोलन है, पराधीन देश का एक नया वेग है तो उत्थान-पतन के नियम को इसे भी मान लेना होगा, नहीं तो यह नहीं चल सकेगा।

लेकिन साथ चलनेवालों के लिये सामग्री जुटानी पड़गी। रसद न पाने पर भी अब तक किसी तरह लँगड़ाते हुए चलते रहे हैं। लेकिन अब हम भूखे, थके और पीड़ित हैं। हमें विदाकर आप लोग नये यात्री बने चुने लें।

[१४ जुलाई १९२२ में हवड़ा जिला कांग्रेस कमेटी के सभापतित्व से इस्तीफा देने के समय पढ़ा गया भाषण ।]

स्वराज्य साधना में नारी

शास्त्रों में त्रिविध दुःख की बात लिखी है। संसार के सारे दुःखों को शायद इन्हीं तीनों में ही बाँटा जा सकता है। लेकिन आज मैं इसकी आलोचना नहीं करने जा रहा हूँ। वर्तमान काल में जिन तीन प्रकार के दुःखों के बीच हमारी जन्मभूमि लुढ़कती जा रही है वह भी तीन प्रकार के सत्य हैं। लेकिन वह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सत्य हैं। हम सभी राजनीति नहीं समझते, लेकिन इस बात को शायद अनायास ही समझ सकते हैं कि इन तीनों का अभिन्न संबंध है। यह बात सुनाई पड़ रही है कि केवल राजनीति से ही हमारे सभी दुःखों, सभी कष्टों का अन्त गा शायद यह बात सच हो, न भी हो, शायद सच-झूठ का मिश्रण हो। लेकिन यह बात किसी भी हालत में सच नहीं कि मनुष्य की किसी भी दिशा से दुःख दूर करने की चेष्टा बिल्कुल व्यर्थ हो सकती है। जो लोग राजनीति में हैं वे सर्वथा सब काल में हमारे नमस्य हैं। लेकिन हम सभी अगर उनके पदों का अनुसरण करके स्पष्ट चिह्न न निकाल सके, तो जो चिह्न केवल स्थूल दृष्टि से दिखाई पड़ते हैं अर्थात् हमारे आर्थिक और सामाजिक स्पष्ट दुःख अगर केवल उन्हीं के प्रतिकार की चेष्टा करें, तो हम शायद महाप्राण राजनीतिक नेताओं के कंधे से एक बड़ा बोझ हटा सकते हैं।

तुम्हारी लम्बी छुट्टी के पूर्व, तुम्हारे और मेरे परम मित्र श्रीयुक्त सुरेन्द्रनाथ मैत्र महाशय ने इस अन्त की और असहनीय वेदना की कुछ थोड़ी-सी बातें तुम्हें याद दिला देने के लिये मुझे बुलाया है और मैंने भी उनका निमन्त्रण स्वीकार किया है। इस सुअवसर और सम्मान

के लिये तुम्हें और गुरु तुल्य स्थानीय व्यक्तियों को मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ ।

इस सभा में मुझे दो कारणों से बुलाया गया है। पहली बात यह कि मैत्र महाशय ने मेरी उम्र का सम्मान किया है। और दूसरी बात है, एक अफवाह कि मैं देश के गाँवों में बहुत दिनों तक घूमा हूं। छोटे-बड़े, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, पंडित-मूर्ख बहुतेरे लोगों से मेल-मिलाप करके बहुत सारी सामग्री जमा कर रखी है। अफवाह किसने उड़ाई इसका पता लगाना मुश्किल है, लेकिन बात पूरी तरह सच न होने पर भी बिल्कुल झूठ नहीं है। देश के नब्बे फीसदी जहाँ लोग बसते हैं वहीं गाँव में मेरा घर है। मन के कितने ही आग्रह, कितनी ही कौतुहलता को दमन करने में सफल न हो बहुधा उनके बीच जा पहुंचता हूँ और उनके बहुतेरे दुःख, बहुतेरी दीनता का आज भी मैं गवाह बना हुआ हूं। उनके उन असहनीय, अव्यक्त, दुःख और दीनता को मिटाने की जिम्मेदारी लेने के लिये मुझे देश के सारे नर-नारियों का आह्वान करने की साध होती है। लेकिन मेरा कंठ रुद्ध हो आता है जब स्मरण होता है कि मातृभूमि के इस महायज्ञ में नारी का आह्वान करने का मुझे कितना हक है। जिसे दिया नहीं है, आवश्यकता पड़ने पर उससे किस मुँह से माँग करूं। कुछ समय पहिले **नारी का मूल्य** नाम का मैंने निबन्ध लिखा था। उस समय मुझे लगा कि अच्छा मैं तो देश की हालत जानता हूं। लेकिन संसार में और भी तो देश है, उन्होंने अपने यहाँ नारी का कौन-सा मूल्य दिया है। पोथी पत्रों को उलटने से जो सत्य निकला उसे देखकर मैं हैरान रह गया। पुरुष के मन के भाव, उसका अन्याय और अविचार सर्वत्र एक ही सा है। नारी के वाजिब अधिकार से कम-बेश प्रायः सभी देशों के पुरुषों ने उसे वंचित कर रखा है। इसीलिये आज

सारे देश भर में उसके पाप का प्रायश्चित शुरू हो गया है। स्वार्थ और लोभ के लिये संसार व्यापी लड़ाई में जब पुरुष ने मार-काट शुरू कर दी तभी उसे पहले-पहल होश आया कि यह खून-खराबी ही अन्त नहीं है, इसके परे और भी कुछ है। जिस तरह पुरुष के स्वार्थ की सीमा नहीं है, उसी तरह उसकी निर्लज्जता का भी अन्त नहीं है। इस दारुण दुर्दिन में नारी के सामने जाकर खड़े होने में उसे संकोच नहीं हुआ। मैं देखता हूँ कि इस वंचिता के दान को न पाने से इस संसार-व्यापी नर यज्ञ के प्रायश्चित का परिमाण आज कितना होता। लेकिन इस बात को भी भल जाने में मनुष्य को शर्म नहीं आयी।

अंग्रेज सरकार के विरुद्ध हमारे क्रोध और क्षोभ का अन्त नहीं, गाली-गलौज भी हम कम नहीं करते। अपने किये का फल वे भोग करेंगे। लेकिन अगर उनके दोषों पर ही भरोसा करके, हम बेफिक्र होकर मन का मोदक खाते रहे तो इसको सजा कौन पायेगा? इस प्रसंग में मुझे कन्यादायग्रस्त बाप, चाचा, ताउओं के क्रोधान्ध चेहरे याद आ जाते हैं। उनके मखों से जो वाणी निकलती है वह मनोहर नहीं होती। वह यह कहकर मेरी शिकायत करते हैं कि मैं अपनी पुस्तकों में दहेज के विरुद्ध हल्ला मचाकर कन्या-दाय के लिये सुविधा क्यों नहीं कर देता।

मैं कहता हूं लड़कियों का विवाह न करें।

वे आश्चर्यचकित होकर कहते हैं कि यह क्या कहते हैं! कन्या-दाय जो है।

मैं कहता हूं कि कन्या जब दाय है तो उसका प्रतिकार आप ही करें, मुझे माथापच्ची करने का समय नहीं, वर के बाप को भी निरर्थक गाली-गलौज करने की इच्छा नहीं। असल बात यह है कि बाघ के मुँह के सामने खड़े हो हाथ जोड़कर उसे

वैष्णव बनने का अनुरोध करने से फल होता है स बात पर जिस पर मुझे भरोसा नहीं, उसी प्रकार जिस वर का बाप कन्यादायी का कान ऐंठकर रुपय ऐंठने की आशा रखता है उसे दाता कर्ण बनने के लिये कहने से फायदा होगा, इसमें भी मेरा विश्वास नहीं। उसके पैर पकड़ने से भी नहीं और उस पर क्रोध करने से भी नहीं। वास्तविक प्रतिकार लड़की के पिता के हाथ में है, जो रुपया देगा उसके हाथ में है। अधिकांश कन्यादाय गृहस्थ मेरी बात नहीं सुनते, लकिन कोई-कोई समझते हैं। वे मुँह लटकाकर कहते हैं कि साहब यह कैसे हो सकता है, समाज तो है? सभी लड़कियों के बाप ऐसा कहें तो मैं भी कह सकता हूँ कि अकेले मुझसे भी यह काम नहीं हो सकता। बात उसे बुद्धिमान की तरह सुननी पड़ती है सही में, पर असली गलती भी यही है। कारण यह है कि संसार में कोई सुधार गिरोह बाँध कर नहीं होते। अकेले ही खड़ा होना पड़ता है। इसमें कष्ट है, लेकिन इस स्वेच्छाकृत अकेलेपन का दु:ख एक दिन संगठित होकर बहुजनों के लिये कल्याण-कारी होता है। लड़की को जो मनुष्य समझता है, केवल लड़की समझकर नहीं, दाय समझकर, भार समझकर नहीं, वही उसके दु:ख को ढो सकता है, दूसरा नहीं। और केवल दु:ख को बर्दाश्त करना ही नहीं, लड़की को आदमी बनाने का भार भी उसी के ऊपर है। और यही पिता होने का सच्चा गौरव है।

इन बातों को मैं केवल कहने के लिये ही नहीं, कह रहा हूं बल्कि सभा में खड़े होकर मनुष्यत्व के आदर्श का अभिमान लेकर भी कह रहा हूं। आज मैं ठोकर खाकर ही यह बातें कह रहा हूं। आज जो लोग स्वराज लेने के लिये सिर पीट रहे ह मैं भी उन्हीं मे से हूं। लेकिन अन्तर्यामी से मुझे भरोसा नहीं मिल रहा है। कहीं किसी गुप्त स्थान से वह मानो प्रतिक्षण

आभास दे रहा है कि यह होने का नहीं। जिस चेष्टा, जिस आयोजन में देश की लड़कियों का हाथ नहीं है, सहानुभूति नहीं है, उन्हें घर के कोने में बन्द कर, केवल चरखा कातने के लिये बाध्य करके, इतनी बड़ी वस्तु को प्राप्त नहीं किया जा सकता। लड़कियों को हम लोगों ने केवल लड़की बना रखा है, आदमी नहीं बनने दिया है; स्वराज के पहिले इस देश को उसका प्रायश्चित करना ही पड़ेगा। निरे स्वार्थ के खातिर जो देश, जिस दिन से केवल सतीत्व को ही वड़ा समझता आया है, उसके मनुष्यत्व का कोई ख्याल नहीं किया है, उसका ऋण उसे पहिले चुकाना ही पड़ेगा।

यहाँ एक आपत्ति उठ सकती है कि नारी का सतीत्व तुच्छ वस्तु नहीं है और देश के लोगों ने अपनी माँ, बहिन, लड़की को जान बूझकर छोटी बता रखा है, यह भी तो संभव नहीं है। सतीत्व को मैं तुच्छ नहीं कहता। लेकिन इसी को ही नारी जीवन का चरम और परम श्रेय समझने को भी मैं कुसंस्कार समझता हूं। क्योंकि मनुष्य की मनुष्य होने की जो सच्ची माँग है उससे कन्नी काटकर जो कोई इस बस्तु को बड़ी करता है उसने उसे भी धोखा दिया है और खुद भी धोखा खाया है। उसे भी आदमी नहीं होने दिया है, और उसने अपने मनुष्यत्व को भी उसी तरह अनजाने छोटा कर डाला है। अपनी कुचेष्टा करने पर भी यह सच है, अपनी सुचेष्टा करने पर भी सच है। फ्रेडरक महान् बड़ राजा थे। अपने देश और उसके लोगों के लिये वह बहुत से अच्छे काम कर गय हैं, लकिन उन्हें आदमी नहीं बनने दिया था; इसीलिये मृत्यु के समय उन्हें कहना पड़ा था कि जिन्दगी भर मैं गुलामी को चराता रहा। इस कथन से जीवन की जितनी बड़ी ग्लानि व्यक्त हुई है उसे केवल ईश्वर ही जानते हैं।

अपने जीवन में बहुत दिनों तक मैं समाज़-शास्त्र का पाठक था। देश की करीब सभी जातियों को घनिष्ट रूप से देखन का मुझे अवसर

प्राप्त हुआ था। मुझे एसा लगता है कि जिन्होंने जिस परिमाण में लड़कियों के अधिकार का हरण किया, ठीक परिमाण में वे क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या नैतिक, सभी दष्टियों से छोट होते गये। इसके विपरीत बात भी उसी तरह सच है। अर्थात् जिस जाति ने जिस परिमाण में अपने संशय और अविश्वास का वर्जन करने में सफलता प्राप्त की, नारी के मनुष्यत्व को जिस परिमाण में मुक्ति दी, उनकी अपनी पराधीनता की जंजीर भी उसी तरह टूट गयी। इतिहास की ओर नजर दौड़ाइये। संसार में ऐसा देश नहीं मिलेगा जिसमें लड़कियों के मनुष्य बनने के अधिकार का हरण न किया गया हो, पर जहाँ यह स्वाधीनता दी गई उनके मनुष्यत्व की स्वाधीनता को कोई प्रबल जाति छीनकर कहीं नहीं रख सकी। रख सकती भी नहीं। शायद ईश्वर की विधि भी यह नहीं है। हमारे अपने स्वतंत्रता के प्रयास में आज यह आशंका मेरी छाती पर पत्थर की तरह बैठी है। ऐसा लगता है कि इस कठिन काम को करना हमने सबसे पहले बाकी रखा, जिसकी अंग्रेजों के साथ कोई लाग-डाँट नहीं है। अगर कोई कहता है कि इस एशिया में ऐसे देश आज भी हैं जिन्होंने स्त्रियों को स्वतंत्रता नहीं दी है पर इनकी स्वतंत्रता का किसी ने हरण नहीं किया है। हरण करेगा ही ऐसी बात मैं नहीं कहता। फिर भी म यह कहता हूँ कि स्वतंत्रता जो आज भी है केवल अनहोनी घटना है। इस अनहोनी घटना के अभाव में अगर कभी वे इस वस्तु से हाथ धो लेते तो हम लोगों की तरह केवल पुरुषों के बल पर इस महाभार का बाल भी हिलाया न जा सकेगा। केवल आपात दृष्टि से इस सत्य का व्यतिक्रम बर्मा में दिखाई पड़ता है। आज वह देश पराधीन है, किसी दिन उस देश में नारी की स्वतंत्रता की सीमा नहीं थी। लेकिन जिस दिन से पुरुष ने इस स्वतंत्रता की मर्यादा का उल्लंघन शुरू किया था उसी दिन से वे जिस तरह खुद भी अकर्मण्य, विलासी

और हीन होने लगे, दूसरी ओर उसी तरह नारी में भी स्वेच्छाचारिता शुरू हो गया और उसी दिन से देश के अधःपतन का भी आरंभ हुआ। मैंने उनके कितने ही शहर, गाँव, पल्ली देखे है, मैंने देखा है कि उन्होंने बहुत कुछ खोया है। लेकिन एक बड़ी चीज को उन्होंने आज भी नही खोया है। नारी सतीत्व का एक फेटिश बनाकर उनके स्वतंत्र, उनके अच्छे होने के पथको कंटकाकीर्ण नही कर दिया। यही कारण है कि आज भी देश का कारोबार, देश का धर्म-कर्म, आज भी देश का आचार-व्यवहार स्त्रियों के हाथ में है। आज उनको-सौ में नब्बे लड़कियाँ लिखना-पढ़ना जानती है और इसलिये आज भी हमारे अभागे देश की तरह आनन्द नामक वस्तु उनके देश से निर्वासित नहीं हो पायी। आज उनका सारा देश अज्ञान, जड़ता और मोह के आवरण से आच्छन्न हो गया है, यह बात सच है। लेकिन एक दिन जब उनकी नीद टूटेगी, जब समस्त नारियों की आँखें खुलेंगी, उसी दिन उनकी पराधीनता की जंजीर टूटती दीखने लगेगी, चाहे वह कितनी ही मोटी और भारी क्यों न हो। उसमें बाधा दे, ऐसी कोई शक्ति नहीं है।

आज हममें से बहुतों की नींद टूट गयी है। मेरा विश्वास है कि इस समय देश में ऐसा एक भी भारतवासी नहीं है जो प्राचीन पवित्र मातृभूमि के नष्ट गौरव और लुप्त सम्मान को पुनरुज्जीवित नहीं देखना चाहता। लेकिन केवल चाहने से ही तो वह नहीं मिलता। पाने का उपाय भी करना पड़ता है। इस उपाय के रास्ते में अनगिनत बाधायें, अनगिनत विघ्न और अनगिनत मतभेद दिखाई पड़ते हैं। और इसी एक चीज को मैं तुम लोगों से सारे जीवन मे परम सत्य के रूप में स्वीकार करने के लिये अनुरोध करता हूं। वह यह है कि दूसरे के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। जिसकी जो मांग है यह उसे पाने दो, चाहे वह मांग जहां भी और जिसकी

भी क्यों न हो। मेरी यह बातें किताब में पढ़ी बातें नहीं हैं, धार्मिक व्यक्ति के मुँह से सुनी तत्व की बातें नहीं हैं। इस लम्बे जीवन में बारबार ठोकर खाकर इस सत्य को मैंने सीखा है। मैं केवल इतने ही से आज भी इन जटिल समस्याओं की मीमांसा करता हूँ; मैं कहा करता हूँ कि नारी अगर मनुष्य होती; और स्वतंत्रता में, धर्म में ज्ञान में अगर मनुष्य की माँग को मैं स्वीकार करता हूं, तो इस माँग को हमें स्वीकार करना ही होगा। चाहे उसका फल कुछ भी क्यों न हो। डोम-मेहतर को अगर मनुष्य कहने के लिये बाध्य होना है और मनुष्य को उन्नति करने का अधिकार है, अगर इसे मानता हूं, तो उसके लिये रास्ता छोड़ना ही पडेगा चाहे वह कही भी क्यों न जा पहुँचे। मैं फिजूल की जिम्मेदारी लेकर किसी भी हालत में उनका हितू बनने नहीं जासकता। मैं नहीं कहता कि बिटिया तुम नारी हो, तुम्हें यह नहीं बोलना चाहिये, तुम अपना भला नहीं समझती हो, आओ मैं तुम्हारे मुंह पर परदा और पैरों में रस्सी बाँध दूँ। डोम को बुलाकर नहीं कहता कि भइया तुम डोम हो तो इससे अधिक चलना फिरना तुम्हारे लिये हितकारी नहीं है, अतएव इसके आगे बढ़े कि तुम्हारे पैर तोड़ दूंगा।

मैं कहता हूं कि जिसकी जो मांग है वह सोलह आने ले। और गल्ती करना मनुष्य के कामों का एक अंग है। इसलिये अगर वह गल्ती करता है तो इसमें अचरज की कौन-सी बात है? मैं दो-एक सलाह भर दे सकता हूं। लेकिन मार-पीट कर, हाथ-पैर तोड़कर भलाई करना ही होगा इतनी बड़ी जिम्मेदारी मेरी नही। इतना अध्यवसाय भी मैं अपने अन्दर नहीं पाता हूं। वास्तव में मुझे ऐसा लगता है कि मेरे जैसा आलसी आदमी अगर मनुष्य के हित की कामना जरा कम करता तो वे आराम से रहते। इनका भी शायद थोड़ा-बहुत सच्चा कल्याण हो पाता। देश का काम, देश का कल्याण करते समय मेरी इन बातों को तुम लोग मत भूलना।

आज तुमसे मुझे और भी बहुत सी बातें कहनी थी। चारों ओर मे सारा बंगाल जीर्ण होता जा रहा है। जो भद्र गृहस्थ परिवार देश के मेरुदण्ड हैं, वे धीरे-धीरे कैसे लुप्त होते जा रहे ह; वह आनन्द नहीं है, वह जीवन नही है, वह धर्म नही है, वह खाना पहिनना नहीं है, समृद्ध प्राचीन गांव भी प्रायः जन शून्य हैं, विशाल प्रासाद तुल्य भवनों मे सियार-कुत्ते रहते हैं। पीड़ित लाचार, मृतपाय जो लोग आज भी वहा पड़े हुए हैं वे खाने की कमी, पानी की कमी से किस अवस्था में हैं, इन हजारों दुःखों की कहानी तुम्हारे तरुण प्राणों के सामने उपस्थित करने की मेरी भी इच्छा थी। लेकिन इस बार समय नहीं मिला। तुम लोग लौट आओ, तुम्हारे अध्यापक अगर मुझे भूल नहीं जाते, तो किसी दिन तुम लोगों को सुनाऊंगा।

[**पौष १३३८ बं० सन् : सन् १९२२ में : शिवपुर इंस्टीट्यूट में पठित भाषण।**]

शिक्षा में विरोधाभास

इतने दिनों तक इस देश को शिक्षा की धारा एक निर्विघ्न, निरु-पद्रव रास्ते से चली आ रही थी; वह भली थी या बुरी, इसे लेकर किसी को चिन्ता नहीं थी। मेरे पिता जो कुछ पढ़ गये हैं मैं भी वही पढ़ूँगा। इससे जब वह दो पैसा कमा गये हैं, साहब बाबू के दरबार में कुरसी पर बैठ गये हैं, हाथ मिला गये हैं, तो मैं ऐसा क्यों नहीं करूंगा। मोटे तौर से यही देश की विचार-पद्धति है। अचानक एक भयंकर तूफान आया। कुछ दिनों से शिक्षा की सारी व्यवस्था की नींव तक इस तरह डगमगाने लगी कि लोग कहने लगे कि वह गिर पड़ेगी। दूसरे लोगों ने डर से सिर हिलाकर कहा कि डरने की कोई बात नहीं, वह नहीं गिरेगी। गिरी भी नहीं। इस बात को लेकर कड़े वाक्य बाणों से उन्होंने विपक्षियों को जर्जरित कर दिया। इसके लिए कारण था। मनुष्य की शक्ति जितनी कम होती जाती है उसके मुँह का विष भी उतना ही उग्र होता जाता है। बाहर से गालियां उन्होंने बहुत दीं, लेकिन अन्दर से विशेष भरोसा नहीं मिला। डर उनके हृदय में ही रह गया। कहीं अचानक कभी हवा ने जोर पकड़ा तो इस हिलते-डुलते विशाल भवन को क्षण भर में भहरा कर गिर जाने में विलम्ब नहीं होगा।

जब ऐसी अवस्था थी उस समय श्रीयुक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर विलायत से लौटे और उन्होंने पूरब तथा पश्चिम की शिक्षा के सम्बन्ध में लगातार भाषणों में अपने मत व्यक्त किये।

रवीन्द्रनाथ मेरे गुरुतुल्य पूजनीय हैं। अतएव मतभेद रहने पर भी उसे प्रकट करना कठिन है। बराबर डर लगता है कि अनजाने

कहीं उनके सम्मान मे लेशमात्र भी आघात न पहुँचा दूँ। लेकिन यह तो केवल व्यक्तिगत की आलोचना नहीं है। बल्कि जो उनके लिए भी बहुत पूज्य है उसी देश से यह सम्बन्धित है। उनकी बातों को लेकर कई फिरंगी अखबार बहुत उल्लसित हो उठे हैं। उनके दाव-पेंच से भरे उपदेशों का अन्त नहीं होता। और कुछ भी क्यों न हो, देश की हित कामना के लिए जब इनका कलेजा फटने लगता है तभी डर लगता है कि भीतर कहीं कोई बड़ी गल्ती है। खास करके बंगालियों द्वारा संचालित एक फिरंगी अखबार से। यह अखबार भी कभी नागा नहीं करता। अपनी बुद्धि से कवि की बातों को विकृत कर, विध्वस्त कर लगातार कह रहा है कि कहते-कहते हमारा गला फट रहा है, मगर कुछ नतीजा नहीं निकला। अब रवि बाबू ने आकर हमारी बात की पुष्टि की; अर्थात् देश के हम शिक्षित लोग बिल्कुल बैठे हुए थे, पश्चिम से लौटे कवि के इशारे पर, सीताराम की जय कहकर पश्चिम की ओर कूद पड़े। जान बची, अब शिक्षित समाज एक किनारे लगा। लेकिन शिक्षितों का समुदाय जिस बात को लेकर इतना शोरगुल करता है, जिन्हें अशिक्षित, अज्ञ आदि विशेषणों से विभूषित करने में जरा भी संकोच नहीं करता है, उनके तर्क से इसका क्या मूल्य ठहरता है उसे तौलना भी अच्छा है। लेकिन अन्ततोगत्वा पूर्व और पश्चिम की शिक्षा के मिलन के सम्बन्ध में असली बात कवि ने क्या कही है।

पहिली बात यह कही है कि आज के युग में पश्चिम विजयी हुआ है, अतएव उनके उस विजय कौशल से हमें सीखना चाहिये। यह अच्छी बात है। दूसरी बात यह है कि लड़ाई के बाद पश्चिम शोक से व्याकुल होकर पूछ रहा है कि भारत की वाणी कहाँ है? अतएव उन्हें यह बतला देना आवश्यक है यह भी अच्छी बात है। मैं जहाँ तक जानता हूं, असहयोगवादियों में कोई भी इस विषय में आपत्ति नहीं करेगा। तीसरी बात यह है कि कवि

ने उपनिपद् के ऋषि वाक्य को उद्धृत कर कहा है 'ईशावास्यमिदं सर्व अतएव मागृध' बहुत ठीक। इससे किसी को कोई विरोध नहीं है। परन्तु यह कोई तत्व की बात नहीं है। सारे संसार में इसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा। पर मनुष्य की ऐसी बदकिस्मती है कि वह सरल और सहज सत्य को सीधे मानने के लिये तैयार नहीं होता। अपने-अपने स्वार्थ और प्रयोजन के अनुसार उसके अन्दर असंख्य उपधारायें, अनगिनत शर्तों को लाकर उसे इस तरह भाराक्रान्त (बोझिल) कर देगा कि तत्व की बात स्वयं एक पहेली बन जायेगी। उस दशा में नि.संकोच रूप से उसे सत्य के रूप में पहिचान लेना कठिन है। सिर्फ इसीलिये मौजूदा तथ्य समूह ससार में सत्य का नकाब पहिनकर मनुष्य के कर्म और चिन्ता धारा में अनधिकार प्रवेश करता है, और इस प्रकार असीम अनर्थ का प्रारम्भ कर देता है।

कवि ने पहिले ही कहा है—

इस बात को मानना ही पड़ेगा कि आज के युग में संसार में पश्चिम के लोग विजयी हुए हैं, संसार को वे कामधेनु की तरह दुह रहे हैं, उनका पात्र छलकने लग गया है।········अधिकार उन्हें क्यों मिला, अवश्य ही किसी सत्य के बल पर।

आज इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संसार के बड़े-बड़े खीर के मांडों में जिसका मुँह लगा हुआ है, उसका पेट भर गया है और दोनों ओर से दूध की धारा गिर रही है। लेकिन हम उपवासी खड़े हुए हैं।

यह एक ठोस सत्य है। आज के जमाने में इससे किसी भी दशा में इनकार नहीं किया जा सकता। हम भूखे हैं यह सत्य है। लेकिन क्या इसीलिये इस बात को मानना पड़ेगा कि इस अधिकार को उन्होंने

निश्चय ही किसी सत्य के बल पर प्राप्त किया है और इस सत्य को उनसे हमें सीखना ही पड़ेगा। लोहा जमीन पर गिरता है, पानी में डूब जाता है, यह एक ठोस सत्य है। लेकिन इसी को अगर मनुष्य चरम सत्य मानकर निश्चित बैठा रहता, तो आज के जमाने में नीचे जल पर और ऊपर आकाश में लोहे का जहाज दौड़ या उड़ नहीं सकता था। आज जो ठोस सत्य है, केवल वही अन्तिम बात नही है। महीने की पहिली तारीख को जो आदमी अपनी विद्या के बल पर मेरे महीने भर की कमाई को लूटकर बाल-बच्चों के साथ मुझे भी भूखों रखता है, या सिर पर डंडा मारकर सब कुछ छीनकर रास्ते के किनारे दूकान पर बैठा चाट का भोग लगाता है... इस बात के ठोस सत्य होने पर भी इसे किसी सत्य के आधार पर टिका हुआ नहीं कहा जा सकता। या इन दोनों महाविद्याओं को सीखने के लिये उनकी शरण में जाना पड़ेगा इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अलावा गिरह कभी इस बात को नहीं बतलायेगी कि पैसे को कहां रखने पर उसे काटा नहीं जा सकता है, अथवा मारने पर भी वह यह नहीं सिखा देगा कि उल्टे उसके सिर पर डंडा मारकर आत्मरक्षा की जा सकती है। अगर इसे सीखना ही है तो उसकी जगह दूसरी है। कम से कम उससे नहीं। कवि ने दावे के साथ कहा है कि इस बात को मानना ही पड़ेगा कि पश्चिम विजयी हुआ है और वह केवल अपना सच्ची विद्या के बल पर, शायद मानना ही पड़ेगा कि बात यही है। कारण यह है कि हाल में ऐसे लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। लेकिन केवल विजयी हुये हैं इसीलिये विजय की यह विद्या भी सच्ची विद्या है अतएव सीखना ही चाहिये, इस बात को किसी भी दशा में माना नही जा सकता। ग्रीस एक दिन संसार का रत्नभांडार लूट ले गया था, रोम ने भी यही किया था। अफगानों ने भी कुछ कम नहीं किया है। लेकिन यह किसी सत्य के बल पर नहीं। यह सत्य होकर भी नहीं रहा। दुर्योधन ने एक दिन

शकुनी की विद्या के बल पर विजयी होकर पंच पांडवों को लम्बे अरसे तक जंगलों में उपवास करने के लिये बाध्य किया था। उस दिन दुर्योधन का पात्र छलक पड़ा था, उसके भोग के अन्न में कहीं तिल मात्र भी कमी नहीं थी। लेकिन इसी को सत्य मान लेने से युधिष्ठिर को लौटकर सारी जिंदगी केवल शतरंज का खेल सीखने में ही गँवाना पड़ता। अतएव संसार में विजय प्राप्त करना या दूसरे की वस्तु को छीन लेने की विद्या को ही एकमात्र सत्य समझकर लालची हो उठना मनुष्य के लिये बड़ी सार्थकता नहीं है। इसके अलावा विजय क्या केवल विजेता पर ही निर्भर करती है? अफगानों ने जब हिन्दुस्तान को लूटा था तो क्या उसे अपने गुण से जीता था? हिन्दुस्तान अपने दोष से हारा था। उस दोष को सुधारने की विद्या उसके पास ही थी, विजेता अफगानों से सीखने के लिये कुछ भी नहीं था। इतिहास में ऐसे दृष्टांत भी दुष्प्राप्य नहीं हैं जब विजेता पराजितों से क्या विद्या, क्या धर्म, क्या सभ्यता, क्या भद्रता सब कुछ सीखकर फिर कभी आदमी बने थे। लेकिन यह किसने कहा कि उसमें अगर कोई सच्ची विद्या है तो उसे सीखना ही चाहिये। किसने कहा है कि उसका द्वार पश्चिमाभिमुखी होने के कारण अहिन्दू कहकर उसका बहिष्कार करना होगा। क्या भौतिक विद्या, क्या रसायनशास्त्र, क्या अर्थशास्त्र, इन पश्चिमी विद्याओं को सीखने की आवश्यकता नहीं, इसे लेकर कौन लड़ रहा है? अगर झगड़ा किसी बात के लिये है तो उसकी विद्या के लिये नहीं, उसे सिखाने के ढोंग को लेकर, शिक्षा की जगह कुशिक्षा के आयतन को लेकर। इतने दिनों तक इस तमाशे में शामिल होकर सभी पागलों की तरह नाच रहे थे। अब कुछ इने-गिने लोगों में चेतना होने के कारण, वे ठमक कर खड़े होकर, इस धोखेबाजी की ओर उँगलियों से दिखाने की चेष्टा कर रहे हैं। मैं तो देखता हूँ कि वास्तव में मतभेद का कारण यही है।

इस चीज को जरा ब्यौरेवार दिखाने की चेष्टा की जाय। पश्चिम की भौतिक विद्या और रसायनशाला पिछले युद्ध के समय जितना आगे बढ़ गयी है, इतने कम समय में शायद ऐसा कभी नहीं हुआ। आदमी को मारने के नये-नये कौशलों का यह जितना ही आविष्कार कर रहे हैं आनन्द से, दम्भ से इनकी छाती उतनी ही फूलती जा रही है। इस विज्ञान की सहायता से आग से, बिष से गाँव को जला कर, शहरों को ध्वंस करने की न जाने कितनी सूरतें इन्होंने निकाली हैं। और लड़ाई अगर चलती रहती तो न जाने और कितनी ही चीजें निकालते। शायद सौभाग्य और सभ्यता का इनका मापदण्ड यह है कि कौन कितने कम परिश्रम से कितने अधिक मनुष्यों की हत्या कर सकता है। इनके लिये विज्ञान की यही सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस बात को जो नही देखता है वह अंधा है। और इस विद्या को दूसरों को सिखा सकते हैं, या सीखने का मौक़ा दे सकते हैं, बहुत बड़ा कवि कल्पना में भी इस बात को नही सोच सकता। बात उठ सकती है कि मानव के कल्याण के लिये क्या किसी वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है? अवश्य ही हुआ है। लेकिन वह लगे हाथों ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है। भले ही यह लगे हाथों हुआ है, लेकिन जब वह मानव के हित के लिये है तो उस विद्या को अपनाकर भी तो हम आदमी बन सकते हैं। शायद वन सकते हैं। लेकिन ठीक इसी उपाय से नहीं। पश्चिम की सभ्यता का दम्भ गगनभेदी है। हमारे और हमारी जैसी और भी अनेकों अभागी जातियों के कंधे पर जब वे सवार रहते हैं तथा घर और बाहर यह कैफियत देते हैं कि यह लोग देखने-सुनने में आदमियों की तरह होने पर भी सोलह आने के आदमी नहीं हैं। कम से कम बालिग आदमी नहीं हैं, नाबालिग हैं। रबड़ के लिये हब्शियों के देश में जाकर बेल्जियम के लोग जब उन्हीं के हाथ

काट देते थे, उस समय भी उन्होंने यही दलील दी थी कि ये हमारे हुक्म को मानना नहीं चाहते व असभ्य हैं। अतएव हम लोगों ने जबर्दस्ती जब उन्हें सभ्य करने का, आदमी बनाने का भार लिया है तो उन्हें आदमी बनाना ही पड़ेगा। अतएव सबक सिखाने के लिये उन्हें कठोर दण्ड देना नितान्त आवश्यक है। तथास्तु कहने के सिवा इसका दूसरा क्या जवाब हो सकता है, यह मैं नहीं जानता। हमारे अर्थात् भारतवासियों के सम्बन्ध में प्रश्न उठने पर भी अंग्रेज यही जबाब देते आये हैं कि ये अर्धसभ्य हैं, नाबालिग हैं। इनके देश में काफी अन्न है, लेकिन नादान शिशु की तरह अधिक खाकर कहीं बीमार न हो जावें इसीलिये इनके मुँह का कौर अपने देश में ले जा रहे हैं। यह इन्हीं की भलाई के लिये कर रहे हैं। रुपये-पैसे को कहीं फ़िजूल ही खर्च करके उड़ा न दें, इसीलिये मिहरबानी करके, हमीं खर्च किये दे रहे हैं। यह भी इन्हीं के कल्याण के लिये कर रहे हैं। हमारी भलाई करने की इसी तरह की न जाने कितनी अनगिनत कहानियों का गला फाड़-फाड़कर ये लोग प्रचार कर रहे हैं। कितना कष्ट उठाकर सात समुद्र, तेरह नदी पार करके हमें आदमी बनाने आये हैं। क्योंकि आदमी बनाने का पवित्र कर्त्तव्य हमीं पर है। लेकिन हाय हम मरे। कानून द्वारा स्थापित होकर हम इन इंडियनों को आदमी बनाने में मरणासन्न हो रहे हैं।

भगवान ही जानते हैं कि कब ये लोग फिर कानून द्वारा स्थापित होंगे। हम कब आदमी बनकर इन्हें दुश्चिन्ता से मुक्त करेंगे। डेढ़ सौ वर्षों से तालीम दी जा रही है, लेकिन हम आदमी नहीं बना पाये। कब बना पायेंगे, इस बात को जानते हैं वे और ईश्वर। लेकिन डेढ़ सौ वर्ष में अगर हमारा यह मोह दूर नहीं हुआ है कि इनकी शिक्षा-व्यवस्था से हम सचमुच ही

एक दिन आदमी बन जायेंगे, सचमुच हमें आदमी बनाकर, अपने मृत्यु-बाण को स्वेच्छा से हमारे हाथों में सौंपने के लिये व्याकुल हैं, तो मैं कहता हूं कि हमारे लिये कभी भी आदमी न बनना ही उचित है। भगवान कभी इन अभागों पर प्रसन्न न हों।

वस्तुतः इस बात को समझना क्या इतना ही कठिन है कि विज्ञान की जिस शिक्षा से मनुष्य यथार्थ में मनुष्य बन जाता है, उसका आत्मसम्मान जागृत हो जाता है, वह उपलब्धि करने लगता है कि वह भी मनुष्य है, अतएव देश की जिम्मेदारी उसी की है, और किसी की नहीं। पराजितों के लिये ऐसी शिक्षा की व्यवस्था क्या विजेता कभी कर सकते हैं? अपने विद्यालय, अपनी शिक्षा की विधि का निर्माण क्या वह अपने सर्वनाश के लिये ही कर देगा? वह केवल इतना ही कर सकता है जिससे उसके काम भलीभाँति चलते रहें। अपनी अदालतों में विचार का बहुमूल्य अभिनय करने के लिये वकील. मुख्तार, मुँसिफ, हुक्म के अनुसार जेल भेजने के लिये डिप्टी, सबडिप्टी, पकड़ लाने के लिये थाने के छोटे-बड़े प्यादे, स्कूलों में कासाबिआंका को पितृभक्ति की कहानी पढ़ाने के लिये दुर्भिक्ष पीड़ित शिक्षक, कालेजों में भारत की हीनता और बर्बरता पर लेक्चर देने के लिये नख-दंतहीन प्रोफेसर, दफ्तरों में हिसाब लिखने के लिये जीर्ण-शीर्ण किरानी उसके शिक्षा का विधान इससे अधिक दे सकता है, इसकी जो आशा करता है उसे क्या नहीं हो सकता है। मैं केवल इसी बात को सोचता हूँ। पर कवि ने कहा है कि जीवित रहने की विद्या या मनुष्य बनने की विद्या केवल शुक्राचार्य के हाथों में है; और आज वह पश्चिम में बसते हैं। अतएव अगर आदमी बनना चाहते हैं तो उनके आश्रम का रास्ता आज हमें नापना ही पड़ेगा, 'नान्यः पंथा विद्यते अयनय'। अमृतलोक का मनुष्य होने पर भी कच को उनका शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ा।

करना पड़ा था सही, लेकिन जमाना अब बदल गया है। हमारे दुर्भाग्य से अगर गुरुदेव के भोजन पर्व में ही नाटक समाप्त हो जाता है, तो खेल का कुछ भी बाकी नहीं रह जायगा।

लेकिन हमें ही इतना दुःख, इतनी वेदना क्यों है? कवि ने कहा है कि वह निरा हमारा अपराध है। लेकिन मैं इस कथन को सोलहों आने स्वीकार नहीं कर सकता। मुझे लगता है कि प्रत्येक मानव जीवन के दुःख के अध्याय में उसके अपराध के अतिरिक्त एक और वस्तु है उसका भाग्य, जो वस्तु उसकी दृष्टि के बाहर है और कोई अधिकार नहीं। इसी प्रकार एक पूरी जाति के दुःख की जड़ में उसके दोष के अलावा ऐसी वस्तु भी है जो उसकी क्षमा के परे है, जो उसका अभाग्य है। हमारे देश के इतिहास का जिन्होंने विवेचन किया है, वे शायद इस बात को पूरी तरह असत्य कहकर उड़ा नहीं देंगे। दुःख और हीनता की जड़ में हमारी तकदीर भी बहुत कुछ जिम्मेदार है, जिसपर हमारा अधिकार नहीं था। लेकिन कवि ने इस बात की पूरी तरह अवहेलना करके उपमा के प में एक कहानी कही है। कहानी इस प्रकार है·······।

मान लो एक बाप के दो लड़के थे। बाप खुद मोटर पर चलता है, वह यह सोचता है कि लड़कों में जो मोटर चलाना सीखे मोटर उसी की होगी। लड़कों में एक तेज है, उसके कौतूहलों का अन्त नहीं। वह छानबीन कर देखता है कि गाड़ी कैसे चलती है। दूसरा लड़का सीधा है, वह श्रद्धा से बाप के पैरों की ओर टकटकी लगाये देखता रहता है। बाप के दोनों हाथ मोटर को किस तरह घुमा रहे हैं, उधर भी इसका ध्यान नहीं। चालाक लड़के ने मोटर के कल-पुर्जों को अच्छी तरह सीख लिया और एक दिन कार अपने हाथ में लेकर भोंपू बजाकर जोरों से चल पड़ा। गाड़ी चलाने के शौक ने दिन-रात उस पर इस

तरह अधिकार जमा लिया कि बाप हैं इस बात का उसे ख्याल ही नहीं रहता। इसका यह मतलब नहीं कि बाप ने उसे बुलाकर तमाचा जड़कर गाड़ी उससे छीन ली। वह जिस रथ के रथी हैं, लड़का भी उसी रथ का रथी है, इससे वह प्रसन्न हुए। अच्छे लड़के ने उसे देखा कि उसका भाई पकी फसल के खेतों को गाड़ी चलाकर बर्बाद कर रहा है। उसे रोकने की किसी को हिम्मत नहीं, उसने सामने खड़े होकर बाप की दुहाई देकर मरणंध्रुवम् कहा। फिर भी बाप के पैरों की ओर देखता रहा। बोला, मुझे और कोई चीज नहीं चाहिये।

इस कहानी की सार्थकता मेरी समझ में नहीं आती। दोनों लड़के कौन हैं, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। लेकिन एक लड़के के प्रति दूसरे की अकारण शैतानी देखकर जो बाप प्रसन्न होता है वह कैसा है यह समझ में नहीं आता, पर इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता है कि ऐसे बाप के चरणों की ओर जो लड़का निहारता रहता है, वह जितने बड़े रथ के रथी क्यों न हों, उनका मरणं ध्रुवम् है।

इसके बाद कवि ने इन दोनों लड़कों का जीवन वृत्तान्त दिया है। मोटर चलानेवाले लड़के ने तो मैजिक से विज्ञान के क्लास में तरक्की पायी लेकिन जो लड़का मरणंध्रुवम् था वह अपने मैजिक और तंत्र-मंत्र को लेकर ही पड़ा रहा। तन्त्र-मन्त्र के ऊपर कवि ने पहिले भी कठोर कटाक्ष किया है। अपने अचलायतन में इस बात को लेकर उन्होंने काफी खिल्ली उड़ायी है। जो जानकार हैं वे इसकी मीमांसा करेंगे, लेकिन मैं समझता हूं कि यहां इसकी कोई आवश्यकता नहीं।

विश्व के पीछे कोई अज्ञेय शक्ति है, मानव इतिहास में यह एक प्राचीन तथ्य है। और आज बीस शताब्दियों के बीत जाने के बाद भी उसका कूल किनारा उसी तरह अज्ञात है, किन्तु उस अज्ञेय शक्ति को सन्न करके अपना काम पूरा करने की चेष्टा मनुष्य सदा करता आ रहा है। आज भी उसकी सूरत नहीं निकली, पर आज भी उसका

अन्त नहीं हुआ। इस उपाय का आविष्कार करते हुए प्रार्थना एक दिन मैजिक में अर्थात् मन्त्र-तन्त्र में बदलती है और मैजिक फिर प्रार्थना के रूप में बदल जाता है। ईश्वर की धारणा के विकार के इतिहास का यह हिस्सा विज्ञान की परिणति के पक्ष में मुझे अप्रासंगिक लगता है।

जो कुछ भी हो इस मोटर चलानेवाले लड़के की उन्नति के हेतुवाद और उस पैर की ओर निहारनेवाले अच्छे लड़के के विवरण को कवि ने यहाँ बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। जैसे—पूरब के देशों में रोग होने पर जब हम भूत के ओझा को बुलाते हैं, दीनता आने पर ग्रहों की शाँति के लिए ज्योतिषी के दरवाजे पर दौड़ जाते हैं, चेचक महामारी को रोकने की जिम्मेदारी शीतला देवी पर डालते हैं, शत्रु को मारने के लिए मारण-उच्चाटन मंत्रों की रट लगा रहे हैं, ठीक उसी समय पश्चिम महादेश में वोलत्यर से एक लड़की ने पूछा था कि सुना है कि मंत्र से झुंड के झुँड भेड़ों को मार डाला जा सकता है, क्या यह बात सच है? वोलत्यर ने जबाब दिया था कि अवश्य ही मारा जा सकता है, लेकिन साथ ही काफी परिमाण में संखिया नामक विष भी रहना चाहिये। योरुप के किसी कोने में जादू-मंत्र पर कुछ भी विश्वास नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन इस सम्बन्ध में संखिया विष में विश्वास वहां सर्वसम्मत है। यही कारण है कि वे जब चाहें मार सकते हैं और हम न चाहने पर भी मर सकते हैं।

कवि का यह अभियोग अगर सच है तो कहने के लिये कुछ भी नहीं, हम सभी को मरना चाहिये। यहाँ तक कि संखिया खाने में भी आपत्ति नहीं करना चाहिये। लेकिन क्या यही सत्य है? वोलत्यर अधिक दिनों के आदमी नहीं। उनके जैसे पंडित और ज्ञानी तब उस देश में सुलभ नहीं थे। अतएव उनके मुंह से निकली यह बात जरा भी अस्वाभाविक या अप्रत्याशित नहीं है। लेकिन उन दिनों यह देश क्या अज्ञान और बर्बरता के इस स्तर पर पहुँच गया था

कि इस बात को कहनेवाला कोई नहीं था कि भइया, ओझा न बलाकर वैद्य के घर जाओ। मारना चाहते हो तो दूसरे रास्ते को अपनाओ। घर में बैठ कर निराले में मरण मंत्र का जप करने से काम नहीं बनेगा। योरुप का कीर्तिगान करने के लिये मैं मना नहीं करता। खड्डे में गिरे हाथी को लेकर उछल-कूद भी नहीं मचाना चाहता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं की ओझा और मारण-उच्चाटन मंत्र-तंत्र के इशारे को निर्विवाद हजम कर सकता हूँ। बंगला साहित्य में 'गोरा' नामक एक अति सुप्रसिद्ध पुस्तक है। अगर कवि उसे एक बार पढ़ देखें तो उन्हें पता चलेगा कि उसका नितान्त देश-भक्त लेखक गोरा के मुंह से कहलाता है कि निंदा पाप है, मिथ्या निंदा और भी पाप और देश की मिथ्या निंदा जैसे पाप संसार में कम ही हैं।

कवि ने कहा कि विज्ञान जादू-मंत्र की ही परिणति है। कोई वस्तु कितनी ही दिशाओं से परिणत होती है वह अलग बात है। लेकिन क्या यह ठीक है कि योरुप अपने जादू विद्या के नाले को एक ही छलांग में पार कर गया, और हम देश भर के लोग हाथ-पैर तोड़कर सदा कीचड़ में ही डूबे रहे। बाहर की ओर विश्ववस्तु एक प्रकाण्ड यंत्र है, इसके अखंड, अव्याहत नियम की शृंखला जादू-विद्या से नहीं टूटती। संसार में जो कुछ घटित होता है उसका एक हेतु है, कठोर नियमों से बँधा है अर्थात् ज्ञान-विज्ञान के यथार्थ जनक-जननी जगत में कार्य कारण के सत्य और मिथ्या संबंध की धारणा क्या इस अभागे देश में किसी की नहीं थी और इस तत्व के प्रचार की चेष्टा को पश्चिम से न लाने से क्या हमारे भाग्य में मारण-उच्चाटन मंत्र तंत्र से अधिक और कुछ नहीं बदा है। पश्चिम के विज्ञान में अनेक गुण है, लेकिन अगर वह हमारे अपने प्रति केवल अनास्था ही ला देता है, हमारे ज्ञान, हमारे धर्म, हमारे समाज संस्थान, हमारी विद्या-

बुद्धि सबके प्रति अगर केवल अश्रद्धा पैदा कर देता है तो लगता है कि लालच भरी निगाहों से पश्चिम के शुक्राचार्य की ओर हमारा न देखना ही अच्छा है। वस्तुतः यही तो नास्तिकता है। मैंने पहिले ही कहा है कि जिस शिक्षा से मनुष्य यथार्थ में मनुष्य बन सकता है, कम से कम मनुष्य के बारे में उनकी जो धारणा है उसे उन्होंने हमें नहीं दिया है, न देंगे और मेरा विश्वास है कि दे नहीं सकते। इस लम्बे अरसे में पश्चिम के संसर्ग से भी हम क्या बने हुये हैं, न केवल यही क्या इस विषय में यथेष्ट प्रमाण नहीं है। हमें केवल यही शिक्षा मिली है कि जिससे हम अपने सभी विषयों में अवज्ञा करें और उनकी सभी चीजों में गंभीर श्रद्धा और उनके भीतर के द्वार इस तरह अवरुद्ध होने के कारण ही आज हमारी अवनति इतनी गहरी है इसे जानने के लिये कोई उपाय नहीं। इसीलिये उनके केवल बाहर के ठाट-बाट को देख कर एक ओर जिस तरह अपने प्रति घृणा होती है, दूसरी ओर उनके प्रति श्रद्धा, धाराओं में फूट निकलती है। इसीलिये हमारे देश के कुछ लोगों ने बिना सोचे-समझे तय किया था कि सोलहों आने उनकी तरह बने बगैर हमारा उद्धार नहीं होगा। उनमें जाति भेद नहीं है अतएव इसे दूर करना होगा, उनमें स्त्री स्वतंत्रता है अतएव इसमें हमारा काम नहीं चलेगा, उनके खान-पान में कोई विचार नहीं है अतएव इसके बगैर हम बच नहीं सकते हैं, उनके यहाँ मंदिर नहीं है, अतएव हमें भी गिरजे का इंतजाम करना होगा, वे भाड़े के धर्म-प्रचारक रखते हैं अतएव वह हमारे लिये भी अत्यावश्यक है.... इसी तरह कितनी ही बातें हैं। शरीर के चमड़े के बदलने का कोई तरीका उन्हें नहीं सूझा नहीं तो आज उन्हें पहिचाना भी नहीं जाता। पर मैं उनके दोष-गुणों पर विचार नहीं कर रहा हूँ, मैं सरल चित्त से कह रहा हूँ कि किसी दल या व्यक्ति विशेष पर आक्रमण करने की मेरी लेशमात्र भी रुचि नहीं है। मैं केवल इस मनोभाव को आप की

नजरों में लाने का प्रयास कर रहा हूँ। देश-विदेश के प्रति अकृत्रिम अनुराग और स्वदेश के प्रति निदारुण विराग इसीलिये यह बात संभव थी, उनके अन्दर का दरवाजा सदा बन्द था। यही कारण है कि जो लोग इनके संसर्ग में आये थे उनकी नजरों में उनके बाहर का मोह इस तरह व्याप्त हो गया था कि इस तत्व का आविष्कार करने में उनको एक क्षण भर देर न लगी कि बाहर से जितना दिखायी पड़ रहा है केवल उतने की ही हूबहू नकल करने से वे भी उसी तरह आदमी बनकर उनकी बगल में सीधे बैठ सकेंगे। संसार में जो कुछ अज्ञात गुप्त है, जिसके अन्दर प्रवेश का रास्ता नहीं, उसके प्रति बाहर के लोगों में लोभ का ठिकाना नहीं। इसीलिये इस बात को स्वतः सिद्ध रूप में मान लेने में उन्हें कहीं भी हिचकिचाहट नहीं हुई कि मनुष्य बनने का सच्चा मंत्र जाने बगैर, मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने का दूसरा रास्ता नहीं। आँख खोलकर गल्ती को देखने का आज दिन आ गया है। वास्तव में शिक्षा में विरोध यहीं है। यह केवल देह की बनावट म ही नहीं है, भीतर की आत्मा में भी है। शिक्षाप्रणाली लेकर यह जो बहस चल रही है···उनकी शिक्षा बहुत मँहगी है। इतने बड़े-बड़े मकानों को लेकर क्या होगा, हाथ से खींचे जानेवाले पंखों की कौन सी जरूरत है, मेज कुर्सी की जरूरत नहीं, लम्बी तनख्वाह वाले विलायती प्रोफेसरों को निकाल बाहर करो···उनके लिये खच जुटाने मे ही इस देश के माँ-बाप पागल हो गये। इसी तरह की सैकड़ों बातें। इसमें कोई झूठ नहीं, लेकिन जब मैं सोचता हूँ कि पश्चिम और पूरब की शिक्षा में संघर्ष कहां हे तो यह भी मुझे तुच्छ लगती है। इनके यथार्थ मिलन में बाधा कहाँ है ? क्या सजावट को थोड़ा सा बदल देने से ही काम बन जायेगा मेज, कुर्सी की जगह लम्बी चटाइयाँ बिछाने से, बिजली के पंखे की जगह ताड़ के पंखे लगाने से, या लम्बी वेतनवाले प्रोफेसरों की जगह कम वेतन के देशी अध्यापकों

को लाने से या अधिक से अधिक विदेशी भाषा के माध्यम की जगह स्वदेशी भाषा में लेक्चर देने के नियम बना देने से यह दुःख दूर हो जायेगा। दुःख कभी न दूर होगा जब तक उस शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती, जिससे देश का बहिर्मुखी वीतश्रमपन फिर अन्तरमुखी और आत्मस्थ नहीं होता। क्या मन का मिलन, क्या शिक्षा का मिलन, यह केवल बराबरीवालों के आदान-प्रदान से ही हो सकता है, इस तरह के कंगलों की तरह, भिखमंगों की तरह कभी नहीं हो सकता। होने पर भी यह एक धोखेबाजी होगी। उसमें कल्याण नहीं होगा, गौरव नहीं होगा। इससे देश को केवल हीनता और लांछन ही मिलेगा, मनुष्यत्व कभी न मिलगा।

मेरी यह बातें केवल बातें ही नहीं हैं, जोश से भरा स्वदेशी लेक्चर नहीं है, वास्तव में जिसे मैंने सत्य समझा है, केवल उसे ही आपके सामने व्यक्त कर रहा हूँ। मनुष्यों में एक प्रकार की शिक्षा है जिसे वह व्यक्ति केवल सुख और सुविधा के लिए अर्जन करना चाहता है। जिस मनोवृत्ति से हमारे इस देश में कोई कोई अंग्रेजी भाषा को साहबी तर्ज में बोलना ही चरम उन्नति समझते हैं और इस मनोवृत्ति के एक सीढ़ी नीचेवाले लोग जहाज और रेल में साहबी पोशाक के सिवा कभी सफर नहीं करना चाहते हैं। यह चीज इतनी नीच, इतनी क्षुद्र है कि ऐसा क्यों होता है, इसका उद्देश्य क्या है, इसकी आलोचना करने में भी घृणा का बोध होता है। लेकिन मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि छद्म वेश की यह हीनता, अपने से अपने को ही छिपाने का यह पाप और गम्भीर लांछन आप लोग अनायास ही हृदयंगम कर सकते हैं। और प्रसंग क्रम में मैं इस बात को यहाँ क्यों लाया इसे समझने में आप लोगों को कठिनाई नहीं होगी।

यहाँ जापान की बात का उल्लेख करने को कोई कह सकते है कि अगर यही सच है तो आज जापान ऐसा किस बते पर बना, उसके

चालीस पचास वर्ष पीछे के इतिहास को एक बार सोच देखें। मैंने सोच देखा है। पश्चिम के शुक्राचार्य के शिष्यत्व के बल पर ही आज अगर वह बड़ा हुआ है तो उसके बड़प्पन को हम लोगों ने शुक्राचार्य के मापदंड से ही नापा है। लेकिन मानवता के विकास का क्या वही अन्तिम मानदंड है ? राष्ट्रीय जीवन में दो चार सौ वर्ष की घटनायें क्या चरम इतिहास है ?

मैं जापान का इतिहास नहीं जानता। उसके पास क्या था, और अब क्या है इस विषय में मैं अनभिज्ञ ँ। लकिन उसको पार्थिव उन्नति की जड़ में अगर पश्चिमी सभ्यता के चरणों में उसका आत्म-समर्पण ही सूचित होता है तो इस बुलन्द आवाज में खुशी मनाने के लिए कोई अधिक कारण नहीं है। और अगर इस तरह का दुर्दिन कभी भारत के भाग्य में दिखाई पड़ता है, अगर वह अपने पिछले जीवन की सभी परम्पराओं को भूलकर उतना ही उन्नत हो जाता है, एक काले चमड़े को छोड़कर पश्चिम से उसका अन्तर नहीं रह जाता तो भारत के भाग्यविधाता ऊपर बैठ उस दिन हंसेंगे, या अपने बालों को नोचेंगे, यह बतलाना कठिन है।

कोई भी बड़ी वस्तु कभी भी अपने अतीत के प्रति वीतश्रद्ध होकर अपनी शक्ति में विश्वास खोकर नहीं होती, होने का उपाय भी नहीं है। उनकी जिस विद्या के प्रति हमारे अन्दर लोभ है, उसे चाहे हम सिर पर हाथ फेर कर सीख लेते हैं या पैरों में तेल मालिश करके अर्जन करते हैं, इसका फल अत्यन्त क्षणस्थायी होगा, अगर उस देश की प्रतिभा का निर्माण भीतर से नहीं होता है, अगर इसकी जड़ राष्ट्र के अतीत के मर्मस्थल को विदीर्ण नहीं करती है। फूलों से भरी डालों और टहनियों के रंग और खुशबू की कितनी भी कीमत क्यों न हो एक दिन मुर्झा जायेगी, किसी भी कौशल से उन्हें रोका नहीं जा सकेगा।

इस सत्य को समझने के लिए अब एक समय आ गया है कि ठगकर हो या छीनकर हो, विभिन्न देशों से लाकर जमा की हुई सम्पदा ही देश की सम्पदा नहीं है। यथार्थ सम्पदा देश की आवश्यकता के अन्दर से ही निर्मित होती है। इसके अलावा जो कुछ है वह केवल भार है, निरा कूड़ा है। दूसरों को देखकर हमें इस ऐश्वर्य के प्रति लालच नहीं करना चाहिये। हमारे ज्ञान, हमारे अतीत ने हमें यही शिक्षा दी है कि आज दूसरे की शिक्षा के मोह में आकर अगर हम अपनी शिक्षा को तुच्छ समझते हैं तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। हवा की गति से चलनेवाली यह ट्राम, मोटरें, घर घर में चलनेवाले बिजली के पंखे, शहर की यह सदा दिवाली, सैकड़ों विदेशी सभ्यताओं की भीड़ जो हमन जमा की है क्या इनमें कोई हमारी यथाथ सम्पदा है। पिछली लड़ाई के दिनों की तरह अगर कभी फिर उसकी आमद का उद्गम सूख जाता है तो, जादू की तरह उसके अस्तित्व को इस देश में मिटने में विलम्ब नहीं लगेगा, इन चीजों को हमने नहीं बनाया है, हम बनाना जानते भी नहीं हैं। ये मंगनी की चीजें हैं। आज इनके बगैर हमारा काम नहीं चलता, पर इनमें से कोई भी हमारे यथार्थ प्रयोजन के अन्दर से नहीं बनी है। इस देखादेखी प्रयोजन को अगर हम बना नहीं सकते और छोड़ भी नहीं सकते, तो निगोड़ी भख की तरह वह केवल इसे एक ओर प्रलुब्ध और दूसरी ओर पीड़ित ही करती रहेगी। लेकिन पश्चिमवालों ने उन्हें अपनी गर्ज से बनाया है। उनकी सभ्यता में इनके बगैर काम नहीं चल सकता। यह बड़े बड़े जंगी जहाज, गोला-बारूद, बंदूक, गैस, हवाई और पनडुब्बी जहाज ये सभी उनकी सभ्यता का अंग-प्रत्यंग है। उनके लिये कोई भी वस्तु बोझ नहीं है। इसलिये उनकी परिणति, उनका लालच हो सकता है। नितान्त निरीह किस्म के बाबूगिरी के सौदे खरीदे भी जा सकते हैं। लेकिन वाणिज्य का जहाज, मोटरगाड़ी, जब तक ये चीजें

अपने प्रयोजन से, अपने देश में, अपनी चीजों के अन्दर से उत्पन्न नहीं होतीं, तब तक जैसे भी और जितने रुपये भी देकर हम उन्हें लायें वे हमारा वास्तविक ऐश्वर्य नहीं हैं। इसीलिए मैन्चेस्टर के महीन कपड़े, ग्लैस्गो का लीनिन और मलमल, स्काटलैंड के ऊनी कपड़े, ये हमारे जाड़े को कितना भी क्यों न दूर करें, और देह के सौंदर्य को क्यों न बनायें, इनमें कोई भी वस्तु हमारी यथार्थ सम्पदा नहीं है, कूड़ा है।

लेकिन मैं जरा बहक गया हूँ। मैं कह रहा था कि मनुष्य केवल सच्चे प्रयोजन से ही निर्माण कर सकता है और निर्माण के सिवा सच्ची सम्पदा उसे कभी नहीं मिल सकती। लेकिन दूसरे से सीखकर मनुष्य अधिक से अधिक उतने का ही निर्माण कर सकता है, उससे अधिक का निर्माण नहीं कर सकता। सृजन करना शक्ति है, वह दिखाई नहीं पड़ती, यहां तक कि पश्चिम के दरवाजे पर धरना देने पर भी। इस शक्ति का आधार है, अपने प्रति विश्वास, आत्म निर्भरता। लेकिन जो शिक्षा हमें आत्मस्थ नहीं होने देती, अतीत की गौरव-गाथा को लुप्त कर आत्मसम्मान पर निरन्तर आघात करती है, कानों में केवल यही सुनाती रहती है कि हमारे बाप-दादे केवल ओझा और मंत्र-तंत्र, ज्योतिषी के चक्कर में ही फँसे रहते थे, उन्हें कार्य कारण का संबंधज्ञान या संसार के अव्याहत नियमों की धारणा नही थी इसलिये हमारी यह दुर्दशा हुई, तो इस शिक्षा में जितने ही मजे क्यों न हों, उसके गले से समझ-बूझकर गला मिलाना अच्छा न होगा।

पश्चिमी सभ्यता के आदर्श में आदमी के मारने को सैकड़ों मंत्र-तंत्र, दूसरे के देश से उसके मुँह के कौर को छीनने के लिये उससे भी अधिक कल कारखाने, ये सारी आवश्यकतायें उसके अन्दर पैदा हुई हैं। लेकिन कवि ने कहा है कि इन सारे महान् कार्यों

को उन्होंने अवश्य ही किसी सत्य के बल पर किया है। अतएव हमें उन्हें सीखना चाहिये, क्योंकि उनकी विद्या सत्य है। उसके अगले क्षण में ही वे कहते हैं कि केवल विद्या ही नहीं विद्या के साथ-साथ शैतानी भी है। अतएव शैतानी में ही उनकी मृत्यु होगी।

हो भी सकती है। लेकिन जो आदमी केवल मारण-उच्चाटन विद्या सीखकर मंत्र जपने लगा है, उसकी कौन-सी चीज सच्ची है और कौन-सी शैतानी से भरी हुई है, इसका निर्णय करना कठिन है। कवि ने हमारे मुँह में एक बात ठूँसकर कहा है—

इसी बात को ही तो हम बारम्बार कह रहे हैं। फूट जिनमें : अर्थात् पश्चिम में : इतनी उग्र है कि सारे संसार को एक ही ग्रास में निगल जाने के लिये जिनके लालच ने इतना बड़ा मुँह बाया है, उनसे हमारा कोई सरोकार नहीं रह जाता। कारण यह है कि वे आध्यात्मिक नहीं हैं, हम आध्यात्मिक हैं। वे अविद्या को ही मानते हैं, हम विद्या को। इस दशा में उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा से हम बचना चाहिये।

अब अगर ऐसी बात किसी ने कही है तो उसने बड़ा अन्याय किया है। मुझ ऐसा नहीं लगता। भौतिक विज्ञान, रसायन हिन्दू है या म्लेच्छ इस बात को कोई नहीं कह सकता। यह बात सच है कि विदद्या की जाति नहीं होती। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि संस्कृत की जाति नहीं होती। यह बात किसी दशा में सच नहीं है और उनकी शिक्षा से जहर की तरह बचने की अगर किसी ने व्यवस्था दी ही है तो केवल इसलिये ही, विदद्या के लिये नहीं। और यह बात सही है कि व केवल अविदद्या को ही मानते हैं और हम विदद्या को मानते हैं तो इन दोनों के समन्वय का उपाय पुस्तकों से, निबंधों से, श्लोकों को उद्धृत करने से दिया भी

एक बात और, पश्चिम की सभ्यता का एक बड़ा मूलमंत्र है जीवन के स्तर को ऊँचा बनाना। हमारे देश की मूल नीति से इसके अन्तर की आलोचना करने का स्थान यह नहीं है, लेकिन उनकी समाज-नीति की जैसी भी व्याख्या, उनकी सभ्यता, उनके अर्थशास्त्र, सबों से जिसका सामान्य परिचय भी है वह इस सत्य को अस्वीकार नहीं करेगा। इस धनी होने का अर्थ केवल संग्रह करना ही नहीं है, साथ ही पड़ोसी को धनहीन बनाना उसका

जा सकता है। लेकिन एक का दूसरे को निगले बगर वास्तविक जगत में समन्वय किस प्रकार हो सकता है यह मैं नहीं जानता। निगलने के लिये जिनका मुँह बड़ा है वे निगलते ही मनु या उपनिषद की दुहाई नहीं सुनगे। कम से कम इतने दिनों तक नहीं सुना है, यह सही है।

पश्चिम के इतने बड़े लंकाकांड के बाद में आज उस दुम के ऊपर संधि-पत्र के स्नेहसिक्त कागज लिपटे हुए हैं और इतनी बीमारी के बाद भी उसकी नाड़ो चल रही है इसम आश्चर्य की कोई बात नहीं। इस महायुद्ध को लगानेवाले दोनों पक्षों का शरीर स्वस्थ और मन चंगा है। जिन्ह मारना था वे मर गय। और फिर जरूरत पड़ी तो उन्हीं को मरने के लिये इकट्ठा किया जायगा।

अतएव इनमें से अगर किसी ने शोक से व्याकुल होकर कवि से प्रश्न किया हो कि भारत को वाणी कहाँ है तो सन्देह होता है कि उसने जरा मजाक किया है। और इसीलिये न्योता देकर

दूसरा उद्देश्य है। नहीं तो केवल स्वयं धनी होने का कोई मतलब नहीं होता। अतएव अगर कोई पूरा महादेश धनी होना चाहता है तो दूसरे देशों को उसी परिमाण में निर्धन किये बगैर वह ऐसा कभी नहीं हो सकता। लेकिन एक बात बराबर याद रखने से कठिन समस्याओं का समाधान हो जाता है। उसका यह मज्जागत संस्कार, उसकी सभ्यता की यह दुनिया इसी के बल पर गगनचुम्बी हो उठी है। उसकी सारी शिक्षा, सारी साधना इसी में नियोजित होती है। आज मेरी बातों से, हमारे ऋषियों के वाक्य से क्या वह अपनी सारी सभ्यता की नींव को हिला देगा। हमारे संसर्ग में उसके बहुत से युग बीते हैं। लेकिन हमारी सभ्यता की आंच तक भी उसके शरीर में नहीं लगी। उसने अपने को ऐसा सतर्क, ऐसा स्वतन्त्र, ऐसा पवित्र बना रखा है कि इसकी छाया भी कभी उसे नहीं लग पाई। इस लम्बे अरसे में इस देश के राजा के सिरताज कोहेनूर से लेकर पाताल के कोयले तक जहां जो कुछ भी था उनकी नजरों से नहीं बचा है। यह बात समझ में आती है, क्योंकि यही उसका सत्य है, यही उसकी सभ्यता की जड़ है। इसी से वह अपने समाज के लिये सभ्यता के रस का शोषण करता है। लेकिन आज ख्वामख्वा अगर उसने भारत की आधिभौतिक सत्य वस्तु के बदले भारत के आध्यात्मिक तत्व पदार्थ का अनुसंधान किया है तो खुश होऊँ या होशियार यह सोचने की बात है।

योरुप और भारत की शिक्षा का विरोध यही है, इसी जड़ में है। हमारे ऋषि वाक्य कितने ही अच्छे क्यों न हों, वे नहीं स्वीकार करेंगे, क्योंकि इसकी उन्हें जरूरत नहीं। यह उनकी सभ्यता का विरोधी है और वे अपनी शिक्षा हमें नहीं देंगे यह बात सुनने में बुरा भले ही लगे पर है सत्य। और देने पर भी जो भिक्षा है उसे न लेना ही अच्छा है और बाकी हमारी सभ्यता के अनुकूल नहीं है तो वह केवल व्यर्थ ही नहीं है कूड़ा भी

है। उनकी तरह हम अगर दूसरों को मारना नहीं चाहते, दूसरे के मुँह का कौर खा जाने को ही अगर चरम सभ्यता नहीं समझते तो मारण मंत्र कितना भी सत्य क्यों न हो, उसके प्रति निर्लोभी होना ही अच्छा है।

और एक बात कहकर मैं अपने इस निबंध को समाप्त करूँगा। समय की कमी से कितनी ही बातें नहीं कह सका लेकिन इस अप्रासंगिक बात को कहे बगैर नहीं रह सकता कि विद्या और विद्यालय एक चीज नहीं है। शिक्षा और शिक्षा-प्रणाली ये दोनों अलग चीजें हैं। अतएव किसी एक को तो छोड़ना नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्यालय को छोड़ना ही विद्या प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। आपात दृष्टि में बात उल्टी मालूम होने पर भी इसका सत्य होना असम्भव नहीं। तेल और पानी एक नहीं होते। ये दोनों चीजे एक दूसरे के विरोधी हैं। फिर भी तेल की बत्ती जलाने के लिये जो आदमी पानी उड़ेलता है वह इसलिये उड़ेलता है कि तेल का अन्तिम-कण भी जला लिया जा सके। जो लोग इस तत्व को नहीं जानते हैं उनको जरा धैर्य रखना अच्छा है।

संस्मरण

ऐसा लगता है कि पराधीन देश का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि स्वतन्त्रता की लड़ाई में विदेशियों से कहीं अधिक अपने देश के लोगों से लड़ना पड़ता है। इस लड़ाई की आवश्यकता जिस दिन समाप्त हो जाती है, पराधीनता की जंजीर भो अपने आप टूट जाती है। लेकिन आवश्यकता समाप्त नहीं हुई, देशबन्धु ने शरीर त्याग दिया। घर और बाहर अथक लड़ाई के गुरु भार को उनका आहत और शान्त शरीर सह नहीं सका।

आज चारों ओर क्रन्दन-ध्वनि सुनाई पड रही है। इतनी बड़ी क्रन्दन-ध्वनि की ही आवश्यकता थी।

उनका जोवन काल बड़ी तेजी से समाप्त होता आ रहा है, इसे हम भी जानते थे और खुद वह भी जानते थे।

उस दिन पटना जाने के पहिले मुझे बुला भेजा। बिछौने पर पड़े हुए थे। निकट जाकर बैठते ही मुझसे कहा, "इस बार अन्तिम है शरत बाबू।"

कहा कि आपने कहा था कि स्वराज्य अपनी आँखों से देख जायेंगे।

क्षण भर चुप रहकर बोले, उसके लिये समय नहीं मिल सका।

जब वह जेल में थे तो कई आदमी दीवार को नमस्कार कर रहे थे। पर उन्होंने कहा था कि हमारे देशबन्धु इस जेल में हैं, हम उन्हें अपनी आँखों से नहीं देख सके। इसलिए जेल की दीवार पर उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। इस बात को उन्होंने सुना था। इसका स्मरण कराते हुए मैंने कहा कि ये आपको कैसे छोड़ेंगे। दोनों आँखें सजल हो आयीं, कुछ क्षणों में उन्होंने अपने को संभाल कर दूसरी बातें शुरू कीं। बीस मिनट के बाद डा० दास गुप्ता ने कमरे के कोने से मेरी मोटी लाठी लाकर हाथ

में दी तो उन्होंने हँसकर कहा कि शरतबाबू इशारा समझ गये न। ये हमें जरा बातचीत भी नहीं करने देना चाहते।

इस बात का मुझे फिर मौका नहीं मिला।

लोग कहते हैं कि इतना बड़ा दाता, इतना बड़ा त्यागी नहीं देखा। दान हाथ फैला कर लिया जाता है, त्याग आँखों से दिखाई पड़ता है, यह आसानी से किसी की नजरों से नहीं बच सकता। लेकिन हृदय का गूढ़ वैराग्य, वास्तव में सभी प्रकार के कामों के बीच भी इतना बड़ा वैराग्य मैंने दूसरा नहीं देखा। ऐश्वर्य की जिसे जरूरत नहीं, धन सम्पदा का मूल्य जो किसी भी तरह नहीं समझ सका, रुपय पैसे को वह दोनों हाथों से न लुटायेगा तो कौन लुटायेगा। एक दिन मुझसे कहा था कि लोग समझते हैं कि मैंने किसी विशेष व्यक्ति के प्रभाव में पड़कर, तरंग में आकर प्रेक्टिस छोड़ दी है। वे नहीं जानते कि यह मेरी बहुत दिनों की आंतरिक कामना थी। केवल त्याग का छल करके उसे छोड़ दिया। इच्छा थी थोड़े से पये पास रखूंगा। लेकिन जब भगवान की इच्छा नहीं है तो मेरे लिए यही अच्छा है।

लेकिन इस विशाल त्याग के एकान्त कोने में एक व्यक्ति और है, वह है वासन्ती देवी। एक दिन उर्मिला देवी ने मुझसे कहा था कि बड़े भैया इतने बड़े कामों के बीच एक व्यक्ति का हाथ चुपचाप काम करता है, वह है हमारी बहु। नहीं तो बड़े भैया किस काम को कितना कर सकते इसमें मुझे घोर सन्देह है। वास्तव में असहयोग के प्रारम्भ से बहुतों को देखा। लेकिन सब कुछ के पीछे छिपी ऐसी आडम्बरहीन, शांत दृढ़ता, धैर्य, ऐसा सदा प्रसन्न स्निग्ध माधुर्य मेरी नजरों से दूसरा नहीं दिखाई पड़ा। नितान्त पीड़ित पति को उस दिन अन्तिम बार कौंसिल में उन्हीं ने भेजा था। डाक्टर को बुलाकर कहा, गाडी हो, स्ट्रेचर हो, जो कुछ भी हो तुम लोग कोई इन्तजाम कर दो। उन्होंने जब इरादा कर लिया है, तो संसार की कोई शक्ति उन्ह रोक नहीं सकती। पैदल

जान की चेष्टा करेंगे, इसका नतीजा यह होगा कि तुम लोग रास्ते में ही इनसे हाथ धो बैठोगे ।

पर खुद साथ नहीं जा सकती। दिन भर चुपचाप रास्ते की ओर देखती रही, अंग्रेजी में इसे कहते हैं हैसीनक्रियेट करना, इसी से वह बहुत ज्यादा भय खाती थी। सभी लोगों की नजरें उनकी ओर खिंचे इस कल्पना से वह संकुचित हो उठती है। आज इसी को भारतवर्ष की सबसे अधिक आवश्यकता है। घर घर में जब तक स तरह की साध्वी, इस तरह की लक्ष्मी पैदा नहीं होगी तब तक देश की मुक्ति की आशा सुदूर की बात ही रहेगी।

आज चितरंजन की दीप्ति से बंगाल का आकाश भास्वर हो उठता है। लेकिन दीप का जो अंश शिखा होकर दिखाई पड़ता है, उसका जलना ही उसका पूरा इतिहास नहीं है। इसीलिए लगता है कि सन्यासी चितरंजन को रिक्त कर लेने में भगवान ने जिस प्रकार संकोच नहीं किया, जब दिया था तब उसी तरह कृपणता भी नहीं की थी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा के उपलक्ष में कहीं दूर जाने की जरूरत पड़ने पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि ठीक उसके पहिले दिन देशबन्धु ने मुझे बुलाकर कहा कि कल आप के संग उर्मिला जायेगी।

मैंने कहा कि जैसी आज्ञा। देशबन्धु ने कहा कि होगा तो। लेकिन शाम के बाद ही गाड़ी है। कल शाम तक आप बीमार नहीं पड़ेंगे ऐसा लग रहा है न।

मैंने कहा कि यह बात साफ है कि दुश्मनों ने आपसे मेरी शिकायत की है।

उन्होंने कहा, कि शिकायत की है सही में। लेकिन आप बिस्तर पर पड़ जाते हैं इस तरंह के गवाह और सबूत तो नहीं हैं।

मुझे उस लड़के की बात याद आ गई जिस बेचारे को बी० ए० तक पढ़ने पर नौकरी नहीं मिली। बड़े बाबू से दरख्वास्त करने पर

उन्होंने क्रोधित होकर कहा था, कि जिसे नौकरी दी है उसकी योग्यता अधिक है, वह बी० ए० फेल है।

जवाब में लड़के ने सविनय निवेदन किया था कि महाशय परीक्षा देने पर क्या मैं उसकी तरह फेल नहीं कर सकता था।

मैंने भी देशबन्धु से कहा, मेरी योग्यता कम है, वे मेरी निन्दा करते हैं। जानता हूं। लेकिन बिस्तर पर पड़े रहने की योजना नहीं है, इस निंदा को मैं कभी भी चुपचाप स्वीकार नहीं कर सकता।

देशबन्धु ने हँसकर कहा कि नहीं। आप गुस्सा न हों, आपकी इस योग्यता को वे मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

गया कांग्रेस से लौटकर भीतरी मतभेद और मनोमालिन्य जब हमारे चारों ओर मेघाच्छन्न हो उठे, बंगाल में जितने अखबार हैं प्रायः सभी ने मिलकर एक स्वर से उनका स्तवगान आरंभ किया, तब अकेले उन्हें ही हिन्दुस्तान के एक छोर से दूसरे छोर तक किसी प्रकार घूम-घूम लड़ते देखा, संसार के इतिहास में शायद इसकी तुलना नहीं। एक दिन पूछा था कि संसार में क्या कोई भी विरोधी अवस्था आपको पस्त हिम्मत नहीं कर सकती है ? देशबन्धु ने जरा हँसकर कहा था कि यदि कोई बचाव न रहता, तो पराधीनता की जो आग हृदय में निरंतर जल रही है वह क्षण भर में मुझे जलाकर खाक कर देती।

आदमी नहीं है, पैसा नहीं है, पक्ष में एक भी अखबार नहीं है, जो लोग बहुत छोटे हैं वे भी गालीगलौज के सिवा बात नहीं करते, देशबन्धु की यह कैसी दशा थी अर्थाभाव के कारण हम बहुत ही बेचैन हो उठते थे, केवल बेचैन नहीं हो उठते तो वे खुद। एक दिन की बात याद आती है। तब रात के नौ या दस बजे होंगे। बाहर पानी बरस रहा था और मैं सुभाष और वह सियालदह के पास एक बड़े आदमी के बैठक खाने में कुछ रुपये की आशा से बैठे हुए थे। धीरज खोकर म

बोल उठा कि गरज क्यों अकेले आप की ही है, देश के लोग सहायता देने में अगर इतने विमुख हैं तो रहने दीजिये ।

मन्तव्य सुनकर देशबन्धु शायद मन ही मन खिन्न हुये । कहा—यह ठीक नहीं है शरत बाबू दोष हमारा है। हमीं काम करना नहीं जानते, हम अपनी बात उन्हें समझा कर नहीं कह पाते। बंगाली भावुकों की जाति है, बंगाली कृपण नहीं है, एक दिन जब वह समझेगी तो अपना यथा सर्वस्व लाकर हमारे हाथों में रख देगी। इन बातों को कहते ही उत्तेजना से उनकी आंखें चमक उठती थीं। बंगाल देश और बंगाल के लोगों को वह कितना प्यार करते थ, कितना विश्वास करते थे। कभी ढूंढ़ने पर भी उन्हें उसमें कोई त्रुटि नहीं मिलती थी।

इस बात का क्या जवाब हो सकता ? मैं चुप रहा, लेकिन आज ऐसा लगता है कि यथार्थ में इतना प्यार न करने से यह असीम शक्ति उन्हें नहीं मिलती। लोग रो रहे हैं महान व्यक्ति के लिये। देश के लोग इसके पहिले कितनी ही बार रो चुके हैं। उस रोने को मैं पहचानता हूं। लेकिन यह वह रोना नहीं है। नितांत प्रिय, नितांत अपने जन के लिये, मनुष्य के हृदय में जो आग जलती रहती है, यह वही आग है। और हम जो उनके आस-पास थे, उनके पास अपने भयंकर दुःखको प्रगट करने की भाषा नहीं है। दूसरों के सामने प्रगट करना अच्छा भी नहीं लगता।

हम लोगों में से बहुतेरों के मन में दश का काम करने की धारणा धीरे धीरे अस्पष्ट हो गई थी। हम देशबन्धु का काम करते थे। आज व नहीं हैं इसलिये रह रह कर यही बात याद आती है कि काम करके क्या होगा, क्या उनके सभी आदेश हमारे मनःपूत होते थ, हाय गुस्सा करने का, अभिमान करने का स्थान नहीं होता था। मानो बिलकुल अंधे हों। इसके लिये हमारी बहुत क्षति भी हो गई। लेकिन हजारों प्रमाण पेश करके भी इस विश्वास से डिगाया नहीं जा सकता था।

उस दिन बरीसाल के रास्ते में स्टीमर के कमरे म बत्ती बुझी हुई थी। मैंने समझा था कि बगलवाले बिस्तर पर देशबन्धु सो गये हैं। बहुत रात बीते उन्होंने अचानक बुलाकर कहा, शरत बाबू सो गये। कहा-नहीं।

तब चलिये डेक पर चलकर बैठ।

मैंने कहा, कीड़ों का बड़ा उत्पात है।

देशबन्धु ने हंसकर कहा, बिस्तर पर पड़े पड़ छटपटाने से उसका सहना आसान है। चलिय।

दोनों जन डेक पर आ बैठ। चारों ओर अंधकार था। बादलों से ढंके आकाश में बीच बीच में तारे दिखाई पड़ते थे। नदी के असंख्य घुमावों के रास्तों से होता हुआ स्टीमर चल रहा था। उसकी दूर प्रसारी सर्च लाइट की रोशनी कभी तीर पर बंधी छोटी नावों की छत पर, कभी ड़पे की चोटी पर, कभी मल्लाहों की झोपड़ियों पर जा पड़ती थी। देशवन्ध बहुत देर तक स्तब्ध रहकर सहसा बोल उठे, शरत बाबू नदी शब्द का सच्चा अर्थ क्या है, जो इस देश में नहीं जन्मे हैं व नहीं जानते। हमारे लिये तो यही देश सर्वप्रिय है, हम तो यही चाहिए।

इन बातों का तात्पर्य मैं समझ गया, लेकिन चुप रहा। इसके बाद वह अकेल ही न जाने कितनी बातें कह गये। मैं चुपचाप बैठा रहा। उत्तर की आवश्यकता नहीं थी। कारण यह कि वे प्रश्न नहीं थे, एक भाव थे। नहीं जानता, क्यों उनका कवि-चित्त उद्वेलित हो उठा था।

अचानक पूछा, आप परदे मे विश्वास करते हैं ?

बोला, आप जिस विश्वास की ओर इशारा कर रहे हैं वह विश्वास नहीं करता।

क्यों नहीं करते ?

यिद बहुत दिनों तक बहुत चरखा काता है, इसीलिये।

देशबन्ध क्षण भर चुप रहकर बोले कि इस भारतवर्ष के ३० करोड़ लोगों में अगर पांच करोड़ भी सूत कातते हैं तो सात करोड़ का सूत तैयार हो सकता है।

मैं बोला, हो सकता है। दस लाख आदमी अगर एक मकान बनाने में हाथ लगावें तो वह डेढ़ सेकन्ड में तैयार हो सकता है। बोलिये आप विश्वास करते हैं।

देशबन्धु ने कहा ये दोनों एक चीज नहीं हैं। लेकिन आपकी बात मैंने समझ ली है। वही नौ मन तेल और राधावाली कहानी। लेकिन मैं फिर भी विश्वास करता हूं। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि चरखा कातना सीखूँ। लेकिन हाथ के किसी काम में मैं तनिक भी पटु नहीं हूं।

मैं बोला, भगवान ने आपकी रक्षा की है।

देशवन्धु हँसे। बोले, आप हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास करते हैं?

बोला, नहीं।

देशबन्धु ने कहा आपकी मुसलमान प्रीति अतिप्रसिद्ध है।

सोचो मनुष्य की कोई भी साधु-इच्छा को गुप्त नहीं रखा जा सकता। ख्याति इतने बड़े कानों तक भी आ पहुँची है। लेकिन अपनी प्रशंसा सुनकर सदा से मुझे लज्जा आती है। इसलिये सविनय मैंने सिर नीचा कर लिया।

देशबन्धु ने कहा, लेकिन इसके सिवा क्या चारा है बतला सकते हैं? इसी बीच में उनकी संख्या पचास लाख बढ़ गई और दस वर्ष के बाद क्या होगा बतलाइये तो।

मैं बोला, यद्यपि यह ठीक-ठीक मुसलमान प्रीति का निदर्शन नहीं है। अर्थात दस वर्ष वाद की कल्पना करते आप का रंग जैसे फक हो गया है उससे आपमें और मुझमें बहुत अधिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ रहा है। कुछ भी क्यों न हो, केवल संख्या ही मेरे लिये बड़ी ची नहीं

है। ऐसा होता तो चार करोड़ अंग्रेज डेढ़ सौ करोड़ लोगों के सिरपर पैर रखकर चक्कर नहीं काटते। नमःशूद्र, माली, नट, राजवंशी, पोद इन्हें खींच लीजिये, देश के भी अन्दर दसके भी अन्दर इनके लिये एक मर्यादा का स्थान निश्चित कर के न्हें आदमी बनाइये, स्त्रियों के प्रति जो अन्याय निष्ठुर सामाजिक अविचार चला आ रहा है उसका प्रतिकार कीजिय, अन्यथा संख्या के लिये आपको चिन्ता करनी पड़ेगी।

नमःशद्र आदि जातियों की लांछना की बात, उनके कलेजे में तीर की तरह बिंधी रहती थी। किसी ने एक बार उन्हें कहा था कि देशबन्धु शब्द का एक अर्थ है, चंडाल। इस बात को सुनकर वे खुशी से फूले न समाय। खुद ऊँचे कुल में पैदा होने के कारण ही, शायद ऊँची जातियों द्वारा दिये गये दोषसे ही इस अपमान की ग्लानि को निपीड़ितों के साथ बराबर भुगतने के लिये उनका हृदय व्याकुल हो उठता था। वे व्यग्र होकर बोल उठे कि आप लोग कृपाकर मुझे इस राजनीति के जाल से छुड़ा दें,मैं जाकर इन्हीं के बीच में रहूँ तो मैं कहीं अधिक काम कर सकूंगा। यह कहकर, उन्होंने न पर दीर्घकाल से हिन्दू समाज कितना अत्याचार कर रहा है, उसी को एक-एक करके कहना शुरू किया। बोले—बेचारों को नाई धोबी तक नहीं मिलते; घरामी घर नहीं छाते; पर यही जब मुसलमान-ईसाई हो जाते हैं तो वे आकर इनका काम करते हैं। इस तरह का बेवकूफ समाज नहीं मरेगा तो कौन मरेगा। यह कहकर, बहुत देर तक चुप रहने के बाद सहसा प्रश्न किया, आप हमारे अहिंसक असहयोग में विश्वास करते हैं न? मैं बोला—नहीं, अहिंसात्मक या किसी भी असहयोग में मेरा विश्वास नहीं।

देशबन्धु ने हँसकर कहा—अर्थात् मै देखता हूँ, हममें कहीं भी रंचमात्र मतभेद नहीं है।

मैंने प्रत्युत्तर में कहा, लेकिन एक दिन यथार्थ में ही रंचमात्र मतभेद नहीं रह जायेगा। मैं इसी आशा में ही तो हूँ। इसी बीच

मुझमें जितनी शक्ति है आपका काम कर दूँ। और केवल मत को लेकर ही क्या होगा? बसन्त मजूमदार, श्री चट्टोपाध्याय तो देश के बड़-बड़े कार्यकर्त्ता हैं। लेकिन अंग्रेजों के प्रति बसन्त की विघूर्णित लाल आंखोंका अहिंसक चितवन और श्रीशका प्रेमसिक्त विद्वेषविहीन मेघगर्जन, इन दोनों चीजों को देखने और सुनने से आपको भी संदेह नहीं रह जायेगा, कि महात्मा जी के बाद अहिंसात्मक असहयोग अगर कहीं स्थान प्राप्त कर सका है, तो वह इन दो मित्रों के चित्त में। पर इतना अधिक काम कितने आदमियों ने किया है? असहयोग आन्दोलन की सार्थकता तो जनसाधारण के लिये है। लेकिन इस जनता वस्तु के लिये मुझे अति-रिक्त-श्रद्धा नहीं है। एक दिन की उत्तेजना में यह अचानक कुछ भी कर बैठ सकते हैं। लेकिन दीर्घकाल की सहिष्णुता इनमें नहीं। उस बार झुंड के झुंड ये जेल गये थे, लेकिन झुँड के झुंड माफी माँगकर लौट आये थे। जो नहीं आय थे वे शिक्षित मध्यम-वर्ग के गृहस्थों के लड़के थे। इसीलिये मेरा सारा निवेदन आवेदन इन्हीं से है। त्याग के द्वारा अगर कोई किसी दिन देश को स्वतन्त्र कर सकता है, तो केवल वे ही कर सकेंगे।

इस जगह शायद दशबन्धु के अन्दर एक गुप्त-व्यथा थी। वह चुप रहे, लेकिन जेल की बात से उन्हें एक बड़े क्षोभ की बात याद आ गई। बोले—इस बात की दुराशा मैंने कभी भी नहीं की है कि देश एक ही छलांग में पूरी तरह स्वतन्त्र हो जायेगा। लेकिन मैं स्वराज्य की एक सच्ची नींव डालना चाहता हूं। तब जेल में था। बाहर बड़े लाट वगैरह थे, उधर सावरमती आश्रम में महात्माजी। वे किसी भी तरह राजी नहीं हुये, हमारा उतना बड़ा सुअवसर नष्ट हो गया। मैं बाहर होता तो किसी भी तरह इतनी बड़ी गल्ती नहीं करने देता। यह सब भाग्य की लीला है।

रात खतम होती आ रही थी। मैं बोला, सोयेंगे नहीं, चलिये।

चलिये---कहकर वह उठ खड़े हुये।

मैंने पूछा---अच्छा, इन क्रांतिकारियों के सम्बंध में आप की सही राय क्या है ?

सामने पौ फट रही थी। वह रेलिंग पकड़े हुए कुछ देर ऊपर की ओर देखकर धीरे से बोले---इनमें से कितनों ही को मैं बहुत ज्यादा प्यार करता हूं। लेकिन इनका काम देश के लिये सोलहो आने खतरनाक है। इस कार्यक्रम से सारा देश कमसे कम पच्चीस व पीछे चला जायेगा। इसके अलावा उसका सबसे बड़ा दोष यह ह कि स्वराज्य पाने के बाद भी यह चीज नहीं मिटेगी। तब और भी स्पर्द्धित हो उ गी। छोट-मोटे मतभेदों से सीधे घरेल लड़ाइयाँ शुरू हो जायँगी। खून-खराबी रक्तपात को मैं हृदय से घृणा करता हूं, शरत बाबू !

लेकिन इन बातों को उन्होंने जब कभी जितनी बार कहा है अंग्रेजी अखबारवालों ने विश्वास नहीं किया है। उनका उपहास किया है, व्यंग किया है ! लेकिन मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि पौ फटने की बेला में आकाश के नीचे नदी के ऊपर खड़े होकर उनके मुँह से सत्य के सिवा और कोई वाक्य नहीं निकल सकता था।

बहुत दिनों के बाद एक दिन रात में उनके मुंह से इसी तरह का निष्कपट-सत्य-कथन मने सुना था। तब शायद रात के आठ बज गये थे। आचार्य राय महाशय को र पहुंचा कर लौट कर देखा कि देशबन्धु जीने पर चुपचाप खड़े हुये हैं। बोला---एक बात कहूं, गुस्सा तो नहीं होंगे ?

उन्होंने कहा---नहीं।

मैंने कहा---बंगाल में आप लोग जो कुछ सचमुच बड़े आदमी हैं, वे परस्पर के दर्शनमात्र से ही किस प्रकार पुलक से ोमांचित कलेवर हो उठते हैं ?

देशबन्धु न हंसकर कहा—बिल्लियों की तरह ।

बोला—अपने पापी मुंह से इस बात को मैं व्यक्त नहीं करूंगा। लकिन अगर नहीं किया जाता तो·····

देशबन्धु का चेहरा गम्भीर हो उठा। क्षण भर स्थिर रहकर धीरे धीरे बोल उठे—कितनी क्षति होती है, इस बात को मुझ से अधिक कौन जानता है। अगर कोई इसका रास्ता निकाल सकता है, तो मैं सब से नीचे, सब के ताबे में काम करने के लिये तैयार हूं। लेकिन धोखे से काम नहीं चलेगा, शरत बाबू !

उस दिन उनके चेहरे पर जो अकृत्रिम चिंता देखी थी, वह भूलन की नहीं। बाहर से जो लोग उन्हें यश का भूखा कह कर प्रचार करते हैं, वे अनजाने ही न जाने कितना बड़ा अपराध करते हैं। और धोखा! यथार्थ में जिस व्यक्ति न अपना सर्वस्व दे दिया उसके बदले में वह धोखे को कैसे बर्दाश्त करेगा।

और एक बात कहनी है। बात अप्रिय है। सावधानी तथा अति-विज्ञता की दृष्टि से एक बार सोचा था कि कहने की जरूरत नहीं है। लेकिन बाद में लगा कि उसकी स्मृति की मर्यादा और सत्य के लिये कह देना ही अच्छा है। इस बार फरीदपुर कांफ्रेंस में नहीं गया। वहाँ के सारे ब्योरो को मैं नहीं जानता। लेकिन लौटकर बहुतेरे लोगों ने मेरे सामने ऐसे मन्तव्य किये हैं, जो प्रिय भी नहीं हैं और साधु भी नहीं हैं। अधिकांश क्षोभ की बातें हैं और देशबन्धु के बारे में वह सोलहो आने असत्य है।

देश के अन्दर क्रांतिकारी गुप्त समितियों के अस्तित्व के कारण, कुछ दिनों से वे नाना दिशाओं से अपने को विपन्न समझ रहे थे। उनके लिये कठिनाई की बात यह थी कि स्वतंत्रता के लिये जिन्होंन अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया है, उन्हें सम्पूर्ण रूप से प्यार न करना, जिस प्रकार उनके लिय असम्भव था, उन्हें प्रश्रय देना भी उनके लिये

उतना ही असम्भव था। उनकी चेष्टाओं को देश के लिये अत्यन्त अकल्याणकर समझ कर वह बहुत डरने लगे थे। इस समिति के नाम से उन्होंने मुझ से एक दिन बंगला में एक अपील लिख देने के लिये कहा था। मैं लिख लाया, "तुम लोग अगर कहीं कोई हो, अगर अपने मतवाद को सोलहो आने नहीं भी छोड़ सकते तो कम से कम पांच सात वर्ष के लिय ही अपनी कार्य-पद्धति को स्थगित रखकर हमें खुल्लमखुल्ला स्वस्थ चित्त से काम करने को इत्यादि, इत्यादि।" लेकिन मेरे 'अगर' शब्द पर घोर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा—अगर की जरूरत नहीं। मैं जानता हूं कि व हैं। अगर निकाल दीजिये।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा—आप की स्वीकारोक्ति का फल देश के लिये अत्यन्त क्षतिकर होगा।

देशबन्धु ने जोर देकर कहा—नहीं। सच कहने का नतीजा कभी भी बुरा नहीं होता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं एकमत नहीं हो सका, वे जान-बूझकर ही करते हैं। लेकिन जो कुछ भी नही करते, सरकार के हाथों उन्हें ही अधिक दुःख उठाना पड़ता है। सुभाष, अनिल वर्ण, सत्यन इत्यादि के लिये उनके अफसोस की सीमा नहीं थी। सुभाष को कार्पोरेशन में काम देने के बाद एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था कि मैंने कार्पोरेशन के लिये अपने सबसे अच्छे आदमी की कुर्बानी की है।

और उसी सुभाष को जब पुलिस पकड़ ले गई तो मुझे दृढ़ विश्वास हो गया था कि उन्हें चारों दिशाओं से अक्षम्य और अकर्मण्य कर देने के लिय ही, सरकार उनके हाथ-पैर काटकर उन्हें पंगु कर रही है।

उनके फरीदपुर भाषण के बाद, उदार दल के लोग ख़ुशी से कहने लगे कि अब तो कोई मतभेद नहीं रहा, आओ गले से मिलकर एक हो जाएँ। अंग्रेजी के अखबारवालों ने उनके इशारे के अर्थ का अनर्थ करके गालियाँ दीं या प्रशंसा की यह ठीक-ठीक समझने में नहीं आया।

उनके अपने दलके कितने ही लोग मुँह फुलाये रहे। लेकिन स सम्बन्ध में मुझे एक बात कहनी है।

असाधारण कार्यकर्त्ताओं में यह एक बड़ा दोष है कि अपने के सिवा दूसरे की कर्मशक्ति में वे आस्था नहीं रख पाते। स बार पीड़ा से जब तक बिस्तरे पर पड़े और परलोक की पुकार जब उनके कानों में आ पहुँची,तब एक दिन मुझसे कहा था--शरतबाबू! जिसने समझौता करना नहीं सीखा, शायद इस जीवन में उसने कुछ भी नहीं सीखा। टोरी सरकार सबसे निष्ठुर सरकार है।

संसार में ऐसा कोई भी अनाचार नहीं है जो यह नहीं कर सकती है। और समझौता कर लेने के लिये भी शायद ऐसा दूसरा दोस्त नहीं। किन भय होता है कि तब मैं नहीं रहूँगा। जलियानवाला बाग की स्मृति क्षण भर के लिए भी उनके अन्तर से अन्तर्हित नहीं हुई।

एक बार एक सभा के बाद गाड़ी के अन्दर मुझसे प्रश्न किया था, कि बहुतेरे मुझे फिर वकालत करने और देश के लिए रुपया कमाने की सलाह देते हैं। आप क्या कहते हैं?

मैंने कहा—नहीं। रुपये के काम की सीमा है, लेकिन इस आदर्श की सीमा नहीं। आपका त्याग सदा के लिए हमारी राष्ट्रीय निधि बनी रहे। यह हमारे लिए अनगिनत रुपयों से भी बहुत बड़ी है।

देशबन्ध ने जवाब नहीं दिया, हँसकर चुप रहे। इस हँसी और मौन का मल्य समझना चाहिये। इससे बड़ी कामना दूसरी नहीं।

[देशबन्धु-स्मृति संख्या, मासिक
बसुमति, आषाढ़ १३३२ से]

अभिनन्दन

श्रद्धास्पद देशबन्धु चित्तरंजन दास महाशय के कर कमलों में—

हे बन्धु ! हम तुम्हारे देशवासी तुम्हें अभिवादन करते हैं। मुक्ति-पथयात्री जितने नर-नारियों ने जहां जितनी लांछना, जितना दुःख, जितना निर्यातन भोग किया है, हे प्रिय ! तुम्हारे अन्दर आज हम उतनी सारी महिमा प्रत्यक्ष करके सगौरव, सविनय नमस्कार करते हैं। हमारी सुजला, सुफला, श्यामला माँ आज अपमानिता, शृंखलिता हैं। माता के शृंखल भार को जितनी संतानों ने स्वेच्छा से अपने कंधों पर उठा लिया है, तुम उनके अग्रज हो। हे वारण्य, अपने उन सभी ख्यात और अख्यात भाई बहनों की, आपके प्रति स्वतः उच्छ्वसित समग्र देश की प्रीति और श्रद्धा की अंजलि, ग्रहण करो।

एक दिन देश के लोगों ने, तुम्हें क्षुधित और पीड़ितों के आश्रय के रूप में जाना था। उस दिन उन्होंने गलती नहीं की थी। लेकिन जिस बात को तुमने स्वयं सदा गुप्त रखा, दाता और ग्रहीता के वह निभृत करुण संबंध, आज भी उसी तरह केवल तुम्हारे लिये ही गुप्त रूप से रहे। लेकिन और एक दिन इस बंगदेश ने आपको भावुक रूप में, कवि के रूप में, वरण किया था। उस दिन भी उसने गल्ती नहीं की थी। उस दिन इस बंगाल के गूढ़ मर्मस्थल को उद्घाटित करके देखने, उसकी अपनी संचित अंतरवाणी को निरंतर कान लगाकर सुनने, उसे समग्र हृदय से उपलब्धि कर लेने के लिये, तुम्हारी एकाग्र साधना की सीमा नहीं। तब शायद तुम्हारी सारी बातें बंगाल के घर-घर में नहीं पहुंची थीं, शायद किसी रुद्धद्वार से धक्का खाकर लौट आई थीं। लेकिन जहाँ उसका पथ मुक्त था वहाँ वह कदापि व्यर्थ नहीं हुईं।

उसके बाद माता का कठोरतम आदेश तुम्हारे पास पहुँचा। जिस दिन देश के निकट स्वतंत्रता का वास्तविक मूल्य निर्दिष्ट कर देने के लिये, सर्वस्व प्रण करके तुम्हें रास्ते पर आना पड़ा, उस दिन तुमने आगा-पीछा नहीं सोचा।

तुम वीर हो, तुम दाता हो, तुम कवि हो। तुम्हारे अन्दर भय नहीं है, तुम्हारे अन्दर मोह नहीं है। तुम निर्मोही हो, तुम मुक्त हो, तुम स्वतंत्र हो। राजा नहीं बांध सकता, स्वार्थ तुम्हें नहीं डिगा सकता, संसार ने तुम्हारे सामने हार मानी है। इसीलिये विश्व के भाग्यविधाता ने तुम्हीं से देश की श्रेष्ठ निछावर को ग्रहण किया, तुम्हीं को समग्र जनता के सामने देश की स्वतंत्रता का मूल्य सिद्ध कर देना पड़ा। जिस बात को तुमने बार-बार कहा है, स्वतंत्रता के लिये हृदय की ज्वाला क्या है ? इसे तुम्हीं को सभी संशयों से परे समझा देना पड़ा। समझा देना पड़ा, नान्यः पंथा विद्यते अयनाय।

यह है तुम्हारी व्यथा। यह है तुम्हारा दान।

छल तुम नहीं जानते, झूठ तुम नहीं बोलते, अपने लिये भी कुछ नहीं छिपा पाते। इसीलिये बंगाल ने तुम्हें बन्धु कहकर आलिंगन किया। तब उसने गलती नहीं की, उसकी निःसंकोच निर्भरता में कहीं भी लेशमात्र दाग नहीं लगा।

अपना कहने के लिये, स्वार्थ कहने के लिये तुम्हारे पास कुछ नहीं है। इसीलिये तो सारा देश तुम्हारी मुट्ठी में है। इसीलि तो तुम्हारा त्याग आज तुम्हारा ही नहीं, हमारा है। केवल बंगालियों को ही नहीं, तुम्हारे प्रायश्चित ने आज बिहारी, पंजाबी, मराठे, गुजराती आदि को जो जहाँ है, सबको निष्पाप किया है।

तुम्हारा दान हमारी राष्ट्रीय निधि है। यह ऐश्वर्य विश्व के भंडार में आज समग्र मानव जाति के लिये अक्षय हो गया। इसी प्रकार से ही मानव जीवन का देनलेन परिशोध होता है, इसी प्रकार

से ही युग-युग में मानवात्मा पशुशक्ति का प्रतिक्रमण करती चलती है ।

एक दिन तुम्हारा नश्वर शरीर पंचभूत में मिल जायगा । लेकिन जबतक संसार में अधर्म के विरुद्ध धम का, सबल के विरुद्ध दुर्बल का, अधीनता के विरुद्ध मुक्ति का विरोध शांत नहीं हो जायगा, तब तक अपमानित लोग सिर माथे करेंगे; और किसी भी तरह केवल जीवित रहना, हर क्षण जीवित रहने को धिक्कार देना है, इस सत्य को कभी भूल नहीं सकेंगे।

जीवन तत्व की इस अमोघ वाणी को देश-विदेश, हर दिशा में उद्भासित करने का गुरु भार, विधाता ने अपने हाथों से जिन्हें अर्पित किया, उनके कारावसन की तुच्छता के उपलक्ष्य में हम आनन्द प्रकट करने नहीं आये हैं । `चितरंजन ! तुम हमारे भाई हो, तुम हमारे सुहृद हो, तुम हमारे प्रिय हो, बहुत दिनों के बाद तुम्हें अपने निकट पाया हूं । तुम्हारे सभी गर्वों में सब से बड़ा गर्व है, तुम बंगाली हो, इसीलिये ही न समग्र बंगाल का हृदय आज तुमपर निछावर करने आया हूँ, और लाया हूँ बंग जननी का हार्दिक आशीर्वाद, तुम चिरंजीवी हो । तुम विजयी हो ।

तुम्हारे गुणमुग्ध स्वदेशी

[जून १९३८ में स्वर्गीय देशबन्धु की कारामुक्ति के बाद श्रद्धानन्द-पार्क कलकत्ता में देशवासियों की ओर से पढ़ा गया अभिनन्दन]

भविष्य का बंग साहित्य

मैं वक्ता नहीं हूं। कुछ बोलना मेरे लिये असंभव जैसा है। घर में बैठ कर कागज-कलम लेकर लिखना एक बात है, और बाहर खड़े होकर बोलना दूसरी बात है। आप सभी मेरी पुस्तकें पढ़कर प्रशंसा कर रहे हैं, कुछ दिनों से लिखना मैंने एक प्रकार से छोड़ दिया है। साहित्य सेवा को ही सबसे बड़ी सार्थकता नहीं समझ पा रहा हूं। अपनी निजी बातों को छोड़कर भी सारे साहित्य में कितना असत्य कितनी पंगुता आ गई है। समाज के संग घुलमिलकर एक होकर उसके अन्दर की वासना कामना का आभास देना ही साहित्य है। भाव में, काम में, चिंता में मुक्ति ला देना ही साहित्य का काम है। साहित्य अगर यथार्थ मुक्ति का व्यापार है तो हमारा साहित्य बिलकुल पंगु है। हमारे साहित्य में नई चीज देना असंभव है। यूरोप की बात लीजिये। उनके पास गिरजा है, जहाजी बेड़ा है, सेना है। उनमें अबाध मिलना-जुलना है, आनन्द है। हम इधर नहीं जा सकते, उधर भी नहीं जा सकते, किसी प्रकार अपने प्रात्याहिक वैचित्रहीन संसार और समाज की बात लेकर इधर-उधर करते हैं।

साहित्य-स्वतंत्रता का अर्थ अराजकता है, ऐनार्की नहीं। यहाँ राजनीतिक आलोचना करके मैं किसी के मन में भय नहीं पैदा करना चाहता। लेकिन देखता हूं कि मानों सब छिपछिप कर डर से बातें कर रहे हैं। राजद्रोह (सिडीशन) से बचकर यहां स्वतंत्रता की बातें की जाती हैं। इसीलिये मुझे लगता है कि अब हमारे देश में इस समय बड़े साहित्यकार नहीं पैदा होंगे। राजनीति में, धर्म में, सामाजिक आचार-व्यवहारों में, जिस दिन हमारे हाथ बंधे, पैर सिमटे नहीं रहेंगे,

जिस दिन आनन्द के बीच लिखा जा सकेगा, उसी दिन साहित्य सृष्टि का दिन फिर आयगा ।

[बारीसाल बंगीय साहित्य परिषद् की शाखा के अभिनन्दन के उत्तर में दिये गये भाषण का सारांश । जेठ १३३०]

गुरु-शिष्य-संवाद

शिष्य—प्रभु ! आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, और इसे कैसे जाना जा सकता है ?

गुरु—वत्स ! यह कठिन है। सभी नहीं जानते लेकिन मैं जानता हूं। बड़ी साधना से तब कहीं उसे पाया जा सकता है, जैसे मैंने पाया है। सुनो, मेरे मुंह से सुन लेने से ही तुम जल्द समझ सकोगे। (शिष्य का आश्चर्यचकित होना)।

गुरु—(गंभीर होकर) वत्स ! शास्त्र में लिखा है, रसो वै सः अर्थात् वह रस है। इस रस के द्वारा ही वह एक और बहु है। इस बहु के पूत रस द्वारा ही वह एक बहु है। इस बहु को पूत द्वारा उद्बोधन करके, एक के बीच बहु और एक के बीच अनैक्यकी उपलब्धि करना, भारतवर्ष का यही निरन्तर साधन है। अच्छा तो तुम्हारा क्या होगा, भूमानन्द लाभ होगा जैसा मुझे हुआ है, तब उस भूमानन्द को एक के द्वारा, बहु के द्वारा, ऐक्य के द्वारा और अनैक्य के द्वारा त्याग के अन्दर से पाने से ही तुम्हें त्यागानन्द प्राप्त होगा। वत्स, उस त्यागानन्द के चित्र को विचित्र करके हृदय में उपलब्धि कर सकने पर ही तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति होगी। इस बात को समझना क्या उतना कठिन है वत्स ?

शिष्य—जी नहीं। उतना कठिन नहीं है। अच्छा गुरु देव, भूमानन्द क्या है, और त्यागानन्द क्या है ?

गुरु—समझा कर कह रहा हूं। सुनो परब्रह्म ही भूमा है। उसके आनन्द का नाम ही भूमानन्द है। इस आनन्द की तुलना नहीं। लेकिन बड़ी कठोर साधना की आवश्यकता है। भूमाका अन्त विशिष्ट

है, आकार विशिष्ट निराकार है, अर्थात् निराकार पर साकार, जैसे काले पर सफेद, समझे।

शिष्य—जी हां, जैसे काले पर सफेद।

गुरु—ठीक वही। आँखें बन्द करके अनुभव कर लो। जैसे काले पर सफेद। यही उसका पूर्ण रूप है, यही उसका सत्य रूप है। इस सत्य रूप की हृदय से उपलब्धि करके, एकाग्र चित्त से विश्वास का पवित्र अर्घ देकर शतदल-कमल पर प्रतिष्ठित कर लेना। वत्स, इस तरह भौचक्के होकर मत रहो, साधना करने पर सफल होगे।

शिष्य—जैसी आज्ञा।

गुरु—वत्स, नहीं तो मैं ही भूमानन्द में इस तरह विभोर कैसे रह सकता था। अच्छा, अब उस सत्स्वरूप को ही श्रद्धा से, निष्ठा से, एकीभूत करके, सत्य के द्वारा आवाहन कर लेने से ही, तुम्हारे हृदय में विश्व मानवता का जो विपुल स्पन्दन जागृत हो उठेगा, उसी अनुभूति का नाम ही भूमानन्द है, वत्स!

शिष्य—समझ गया गुरुदेव! ऐसी कठिन वस्तु को आपने कितने सहज सुन्दर तरीके से समझा दिया। भूमानन्द के संबंध में अब मुझे तनिक भी संशय नहीं।

गुरु—(हल्की हँसी) इसके बाद आंखें मूंदकर—वत्स, सब कुछ भगवत् का प्रसाद है। खुद समझा है, उनके सत्य रूप को इस हृदय में सम्यक् अनुभव करके धन्य होने के कारण ही इतनी सरलता से समझा दिया। अब तुम्हारे दूसरे प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ। समझ लो। क्या प्रश्न किया था, यह भी आनन्द स्वरूप है वत्स! प्राप्ति होन पर ही हमें आनन्द होता है, यह सर्वतः सिद्ध है। किन्तु यह पाना जैसे-तैसे होन से काम नहीं चलेगा। वह प्राप्ति निष्फल-प्राप्ति है, वह प्राप्ति ही नहीं है, अतएव त्याग के द्वारा पाने की चेष्टा करना।

शिष्य—प्रभु ! ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं कर सका। त्याग के द्वारा कैसे पाऊँगा ? त्याग करने से तो हाथ धोना पड़ेगा।

गुरु—वत्स गलत समझे ! तुम्हें त्याग करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, त्याग के द्वारा पाने के लिए कह रहा हूं। अर्थात् पांच आदमी जब त्याग करते रहते हैं तो संभवतः तुम्हें जो प्राप्ति होगी, त्याग का वह पाना, वह बड़े दुःख से पाना, उसे विश्वपति का दान समझकर हृदय में सात्विक रूप से अंगीकार कर लेनसे ही तुम्हारे अन्दर त्यागानन्द उत्पन्न होगा। अहा, वह कैसा आनन्द है ! (क्षणभर आंखें मूँदकर मौन रहकर) फिर वत्स मेरा यह मै, शास्त्र जिसे अहं कहता है और त्याग करते हुए वजन करने का आदेश देता है, उस 'मैं' सी सत्यानाशी दूसरी वस्तु नहीं है। इस मैं को पांच जनों के अन्दर विश्वमानव के अन्दर डुबा देना। तब, तुम्हारे अन्दर अपना-पराया भेद नहीं रहेगा, पांच जनों को अपने से अलग नहीं देखोगे। तब, उनके दान को अपना दान समझकर हृदय में जिस अतुलनीय आनन्द का उपभोग करोगे, वत्स ! भगवान् के उसी आनन्दरूप को हृदय में धारण करके मैं सदा के लिये धन्य हो गया हूँ। अहा !

शिष्य—समझ गया गुरुदेव ! अब आशीर्वाद दीजिये, वरदान दीजिये, ताकि कठोर साधना के द्वारा आपका शिष्य बनने के योग्य हो सकूँ।

गुरु—तथास्तु !

[यमुना १३२०। फाल्गुन, पंचमवष, ग्यारहवें अंक स]

साहित्य और नीति

बचपन से ही कृष्णनगर का नाम मेरे निकट परिचित है, और वह परिचय हुआ था अपनी दादी के मुँह से सुनी हुई नाना प्रकार की विचित्र कहानियों और लोरियों के अन्दर से। साहित्य रस के उस मधुर स्वाद को मैं इस प्राचीन अवस्था में भी नहीं भूल सका हूँ। यही जनपद, किसी दिन शिल्प, कला और साहित्य का केन्द्र था, मैं निश्चित रूप से जानता हूँ, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। बंगाल के दो बड़े कवियों में से एक की कर्मभूमि और दूसरे की जन्मभूमि यही कृष्णनगर है। बंगाल के नाना सुख-दुःख के इतिहास में इस प्राचीन नगर ने एक विशेष स्थान अधिकार कर रखा है। इसे आँखों से देखने का लोभ मेरे मन में सदा रहा है। आज साहित्य परिषद् की ओर से आप लोगों के सादर आह्वान से मेरी वह साध पूरी हुई। आप लोग मेरा धन्यवाद स्वीकार करें।

साहित्य सेवा ही मेरा पेशा है। लेकिन इसकी जाँच पड़ताल (माँजने-संवारने) के मामले में मैं बिलकुल अनभिज्ञ हूँ। मेरे मुँह से यह वात विचित्र लगने पर भी यथार्थ में सत्य है। किस धातु के बाद किस प्रत्यय से साहित्य पद निष्पन्न हुआ है? इसकी विशेषता क्या है, रस क्या चीज है, सच्ची कला किसे कहते ह, झूठी कला किसे कहते हैं, इसकी संज्ञा क्या है, मैं इन सबके बारे में कुछ भी नहीं जानता। दूर प्रवास में किरानीगिरी करता था, घटना-चक्र से दसेक वर्ष हुए इस व्यवसाय में लिप्त हो गया हूँ। कुछेक पुस्तकें लिखीं, किसी को अच्छी लगी हैं, बहुतों को नहीं लगी हैं; जो पंडित हैं उन्होंने बड़ी-बड़ी किताबों से कठिन से कठिन अकाट्य उदाहरण देकर

सिद्ध कर दिया है कि बंगला भाषा का मैंने बिल्कुल सर्वनाश कर दिया है। इतनी जल्दी इतना बड़ा दुष्कार्य कैसे कर गया इसे भी मैं कैसे जानता। इसकी कैफियत क्या है, यह भी मुझे बिल्कुल मालूम नहीं। अतएव तथ्यपूर्ण गंभीर गवेषणा की लेशमात्र आशा भी मुझसे आप लोग न करें।

तर्क, वितर्क में कूदना मेरा स्वभाव नहीं, अपने पक्ष समर्थन करने की शक्ति या उद्यम कोई भी मुझ में नहीं, केवल अपने छोटे से साहित्यिक जीवन की परिणति की कुछ सीधीसादी बातें ही आपको सुना सकता हूँ। शायद सुनाने की आवश्यकता भी है। उत्तरदायित्त्व के लिए नहीं, क्योंकि पहले ही कहा है कि यह मैं नहीं करता, करने की आवश्यकता भी नहीं समझता। केवल एक आधुनिक साहित्यसेवक की, बिल्कुल निजी, बातें ही कहना चाहता हूं। परलोक की बातें नहीं जानता, लेकिन इस लोक में मानव-जीवन-यात्रा के पथपर जहाँ तक दृष्टि जाती है, दिखाई पड़ता है कि विश्वमान किसी वस्तु को लक्ष्य करके निरन्तर चल रहा है। उसके तीन अंश कला (आर्ट), नैतिकता (मोरालिटी) और धर्म (रिलीजन) है। संसार की सारे मारकाट, एक का दूसरे का राज्य छीन लेना, एक के दुःख द्वारा उपार्जित वस्तु को दूसरे का ठग लेना, सभी कार के काम, क्रोध, लोभ, मोह ये रास्ते के जंजाल हैं, काँटे हैं। लेकिन मानव के वृहत्तर प्राणका लक्ष्य वही है। अपने कपड़े की दुकान पर बैठा मारवाड़ी इस बात को सुनकर हंसेगा, बर्ड कम्पनी का बड़ा साहब अपने दफ्तर में मेज के सामने बैठकर इस सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकेगा, फाटका-बाजार की भीड़ में यह बात बिल्कुल झूठी प्रतीत होगी। फिर भी मैं जानता हूँ कि उनका अंत वहीं है, और इससे बड़ा सत्य दूसरा नहीं। इतना लोभ, इतना मोह, किस लिय, इतना झगड़ा-फसाद किस लिये, ऐश्वर्य की ऐसी कामना किस लिये ? जो वास्तविक ऐश्वर्य है वह

सदा से मनुष्य के नित्य प्रयोजनों के अतिरिक्त है। मनुष्य अकेला उसे अर्जन करता है, संचय करता है, लेकिन जिस क्षण वह ऐश्वर्यशाली हो जाता है, उसी क्षण वह उसके अपने भोग के मान के बाहर हो जाता है। ऐश्वर्य को अकेले भोग करने की चेष्टा करने से वह अपने को अपने आप व्यर्थ कर देता है। जो समग्र मानव का है, उसे अकेले भोगने में वह पराभूत होगा ही। और उस ऐश्वर्य की चरम परिणति कहाँ है। सुन्दर और मंगल की साधना में, कला में, नैतिकता और धर्म में। यह अकेले का नहीं। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति की ओर मानव निरन्तर चल रहा है। अतएव जो असुन्दर है, जो अनैतिक (इम्मोरल) है, जो अकल्याणकर है, किसी भी दशा में वह कला नहीं, धर्म नहीं। कला कला के लिए, (आर्ट्स सेक) आर्ट फौर, यह किसी भी दशा में सत्य नहीं, सैकड़ों हजारों आदमियों के गला फाड़कर कहने पर भी सत्य नहीं। मानव जाति में जो विशाल जीवन है वह इसे किसी भी तरह स्वीकार नहीं करेगा। अतएव सच्चे कवि के रूप में, यथार्थ कलाकार के रूप म जिसे ग्रहण करूँगा, उसके सृजन को अन्याय कहकर, कुत्सित कहकर दूसरे हाथ से बहिष्कार नहीं कर सकूंगा। फिर भी चलाने की चेष्टा करना ही सबसे बड़ी भूल और सबसे बड़ा अन्याय है।

लेकिन यह तो हुई सिद्धान्त (थियोरी) की बात, आदर्शवाद की बात। इसमें शायद इतना विवाद नहीं। लेकिन कवि में, कलाकार में अर्थात् उसके अपने अन्दर ही जहाँ एक क्षुद्र मनुष्य निवास करता है उसी को लेकर हंगामा होता है। यहाँ लोभ, मोह, निन्दा (प्रेजूडिस) के कुसंस्कार बीच-बीचमें ऐसा कुहासा उत्पन्न कर देते हैं कि उसके अन्धकार के सहारे कितनी ही धोखा-धड़ी, अनेकों उत्पात घुसकर दारुण उपद्रव की जड़ जमा लेते हैं। यही असत्य और अकल्याणकर द्वार है। इस अंधकार से अधिकारी और अनधिकारी, कवि और अकवि, सुन्दर और कुत्सित, काव्य और गन्दगी का मिलकर जो

मंथन शुरू होता है उसका कीचड़ सबके मुंहपर जा पड़ता है। इस कीचड़ को केवल काल ही धो सकता है। इसके हाथों से अनागत भविष्य में शुद्ध और स्नात होकर सत्य वस्तु, मनुष्य को दिखाई पड़ती है। शायद इसीलिए कवि के अन्दर उसका जो अंश कवि है, इस चरम विचार की प्रतीक्षा करने से वह नहीं बराता। लेकिन उसका जो अंश क्षुद्र मनुष्य है केवल उससे सब्र नहीं किया जाता। वह झगड़ा करना है, कलह करता है, दल बनाता है, हाथोंहाथ वह नगद मूल्य वसूल कर लेना चाहता है। सामयिक पत्रों के फेर में इसी स्थलपर वह बार-बार भँवर में पड़ जाता है।

पूज्यपाद रवीन्द्र नाथ कहते हैं कि वह स्कूल मास्टर नहीं हैं वह कवि हैं। हाथ में बेंत लेकर लड़कों को आदमी बनाना उनका पेशा नहीं। इसी बात को लकर उनके विरुद्ध व्यक्त और अव्यक्त कटूक्तियों का अन्त नहीं। कटूक्तियों के मालिक शायद कवि की उक्ति का यह अर्थ लगाते हैं कि जब वह हाथ में बेंत लेकर बच्चों को आदमी बनाने के लिए तैयार नहीं, कहानी म भुलाकर बूढ़े बच्चों को नीति की शिक्षा नहीं देना चाहते ह, तो वह निश्चय ही बच्चों को बर्बाद कर देना चाहते हैं। लेकिन वाक्य जो वास्तविक काव्य है, वह चिर-सुन्दर, चिर-कल्याणकर है। कवि के अन्तर की इस बात को वे समझना ही नहीं चाहते हैं। और उन तिकड़मों के अन्दर से कवि और काव्य अपने आपको निष्फल कर देते हैं, इस बात को वे भूल जाते हैं।

इस बात को ही मैं दो उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहता हूँ। मेरा अपना पेशा उपन्यास साहित्य है। अतएव इस साहित्य की दो एक बातें कहना शायद निरी अनधिकार चर्चा नहीं समझी जायगी। जो मेरे नमस्य हैं, मेरे गुरु तुल्य हैं, उनकी रचनाओं से एकाध उदाहरण देने से अगर थोड़ा विरोधी मत भी हो, तो आशा करता हूँ, कि आप लोगों में कोई उसे असम्मान या अश्रद्धा पूर्वक समझने की गलती

नहीं करेंगे। मेरे साहित्यिक जीवन की परिणति के प्रसंग में उसकी आवश्यकता भी है। आजकल प्रायः ये दो शब्द सुनने में आते हैं आदर्शवादी और यथार्थवादी।

कहा जाता है कि मैं अन्तिम संप्रदाय का लेखक हूं। मेरी यही बदनामी सब से अधिक है। पर किस प्रकार से इन दोनों को छाँटकर लिखा जा सकता है यह मैं नहीं जानता। कला मनष्य का सृजन है, वह प्रकृति नहीं है। संसार में जो कुछ घटित होता है, और बहुत सी गंदी बातें घटित होती हैं, वह भी किसी दशा में साहित्यिक उपादान नहीं है। प्रकृति या स्वभाव की हूबहू नकल करना फोटोग्राफी हो सकती है। पर क्या वह चित्र होगा? दैनिक अखबारों में बहुतेरी रोमहर्षण भयानक घटनायें प्रकाशित होती हैं। क्या वे साहित्य हैं। चरित्र सृजन क्या इतना आसान काम है? बहुतेरे कृपा करके मुझसे कहते हैं, कि महाशय मैं ऐसी घटना जानता हूँ कि अगर उसे आपको बताऊं तो आप एक सुन्दर पुस्तक लिख सकते ह।

मैं कहता हूं, तो आप स्वयं ही उसे लिखें।

वे कहते हैं, तो चिंता किस बात की थी। यही तो मुझ से नहीं होता।

मैं कहता हूं कि, आज न हो सके तो दो दिन बाद हो सकता है। ऐसी चीज को यों ही हाथ से न जाने दें।

वे नहीं जानते हैं कि, संसार में किसी अद्भत बात को जानना ही साहित्य का बड़ा उपकरण नहीं है। मैं तो जानता हूं कि मेरे पात्र कैसे बनते हैं। वास्तव अनुभव की मैं उपेक्षा नहीं कर रहा हूं। लेकिन वास्तव और अवास्तव के सम्मिश्रण में कितनी व्यथा, कितनी सहानुभूति, कलेजे के कितने खन से, धीरे-धीरे बढ़कर प्रस्फुटित होती है, इस बात को और कोई भले ही न जाने म तो जानता हूं। सुनीति और दुर्नीति का स्थान इसी में है। लेकिन विवाद करने के लिये जगह नहीं है।

यह वस्तु इनसे बहुत ऊंची है। इनकी गड़बड़ी पैदा कर देने से जो ऊधम मचता है उसे काल क्षमा नहीं करेगा। इससे नीतिकी पुस्तक बन सकती है, लेकिन साहित्य नहीं बनेगा। पुण्य की विजय और पाप का क्षय, यह भी होगा। किन्तु काव्य सृजन नहीं होगा।

मुझे याद है, बचपन में 'कृष्णकांत का वसीयतनामा' की रोहिणी के चरित्र ने मुझे अत्यन्त विचलित कर दिया। वह पाप के पथ पर उतर पड़ी। इसके बाद तमंचे की गोली से मर गई। बैलगाड़ी पर लादकर उसकी लाश का चालान हो गया। अर्थात् हिन्दुत्व की दृष्टि से परिणाम का कुछ भी अंश बाकी नहीं रहा। अच्छा ही हुआ। हिन्दू समाज ने भी पापी के दंड से चैन की साँस ली। लेकिन एक पक्ष और भी है, जो इससे भी पुराना है, इससे भी सनातन है। वह है नरनारी के हृदय का गंभीरतम, गूढ़तम प्रेम। मुझे आज भी मानो लगता है, कि दु:ख और समवेदना से बंकिमचंद्र की दोनों आँखें अश्रुपूर्ण हो उठी हैं, लगता है, उनका कवि चित्त, मानो उन्हीं की सामाजिक और नैतिक बुद्धि के चरणों पर, आत्महत्या कर रहा है।

कितनी ही बार मुझे लगा है, कि रोहिणी का चरित्र शुरू करने के समय इस बात की कल्पना उनके दिमाग में नहीं थी, होती तो वह उसका सृजन इस तरह से नहीं कर पाते, केवल प्रेम ही के लिये चुपचाप गुप्त रूप से वारुणी के जल में अपने पापको विसर्जन करने के लिये पापी पति को कवि इस प्रकार से नियोजित नहीं करते।

गोविन्द लाल को रोहिणी ने अकृत्रिम और निष्कपट रूप से प्यार किया था, सारे हृदय से जीवन से ही प्यार किया था। और इस प्यार का प्रतिदान भी उसे नहीं मिला, ऐसा नहीं। किन्तु हिन्दू धर्म की सुनीति के आदर्शानुसार वह इस प्रेम की अधिकारिणी नहीं, यह प्यार उसका प्राप्य नहीं है। वह पापिष्ठा है, इसीलिये पापिष्ठाओं के लिये निर्दिष्ट नीति के अनुसार उसे विश्वासघातिनी होना ही

चाहिये और वह हुई भी। इसके बाद का इतिहास अत्यन्त संक्षिप्त है। पाँच मिनट की मुलाकात से निशाकरके प्रति आसक्ति और तमंचे की गोली से मृत्यु। मृत्यु के लिये अफसोस नहीं करता। किन्तु उसकी अकारण, अहेतुक जबर्दस्ती अपमृत्यु से, हतभागिनी की अस्वाभाविक मृत्यु से, पाठक-पाठिकाओं की सुशिक्षा से लेकर समाज की विधि और नीति की परम्परा तक सब कुछ की रक्षा हुई, इसमें संदेह है। लेकिन मरी वह, और उसके साथ ही सच्ची, सुन्दर कला। उपन्यास के चरित्र-पात्र केवल उपन्यास के नियमों से ही मर सकते हैं। नीति की लाल आँखों से उन्हें मारा नहीं जा सकता।

ठीक वजूहात से श्रीयुक्त यतीन्द्रमोहन सिंह महाशय ने अपनी पुस्तक (साहित्यकी स्वास्थ्य रक्षा) में मेरे देहाती समाज की विधवा रमा की खिल्ली उड़ाते हुये कहा है, बिटिया तुम बुद्धिमती हो न, बुद्धि-बल से तुम अपने पिता की जमींदारी चला सकीं, और तुम्हीं ने अपने बाल्य-सखा र-पुरुष रमेश से प्यार कर डाला। यही तुम्हारी बुद्धि है, छिः! यह धिक्कार कला की प्रेरणा नहीं है, यह समाज का धिक्कार है, नीति के अनुशासन का धिक्कार है। इनका पापदण्ड एक नहीं, अक्षर-अक्षर पंक्ति-पंक्ति के एक करने के प्रयास में ही सारी त्रुटियाँ हैं, सारे विरोधों की उत्पत्ति है।

श्री युक्त यतीन्द्र बाबू का सामाजिक धिक्कार, कलाके राज्यमें कैसी महामारी पैदा कर सकता है, उसका एक उदाहरण और दूँ। मेरे परम श्रद्धास्पद मित्र एक प्रवीण साहित्यिक की एक छोटी कहानी है। उसका प्लाट अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार है—नायक एक अमीर जमींदार है। नायक है, अतएव हृदय विशाल, दिल ऊँचा, नैतिक बुद्धि अतिशय सूक्ष्म है। कलकत्तेमें उसका एक विशाल भवन है। भाड़े पर उठा है, दाम लाखों पये होंगे। किसी तारीख को एक व्यक्ति ने महीने भर के लिए मकान किराय पर लिया। मकान मालिक जमींदार

तो बगलवाले मकान में रहते हैं। अचानक एक दिन उन्होंने मकान के अन्दर एक स्त्री के रोने की आवाज सुनी। दो दिनों के बाद पता लगाने पर मालूम हुआ कि मकान में हत्या हुई है। लेकिन किराये-दार किराया दिये बिना ही भाग गये। उनका पता मालूम नहीं। पापका दण्ड देना असम्भव है, इसलिये उन्होंने हुक्म दिया कि मकान को तोड़ कर मैदान बना दो। पांच सात दिनों के अन्दर ही उतने बड़े लाखों रुपये के मकान की जगह मैदान बन गया।

कहानी यहीं समाप्त हुई। प्रेसीडेन्सी कालजके अंग्रेजी के एक प्रवीण अध्यापक इस कहानी को पढ़ कर सजल नयनोंसे बार-बार कहने लगे कि जिन्दगी में ऐसी शिक्षा द सुन्दर कहानी उन्होंने कभी नहीं पढ़ी है और इस तरह की कहानियाँ बंगला साहित्य में जितनी बढ़ें उतना ही मंगल है।

ऐसी कहानियाँ मैंने भी अधिक नहीं पढ़ी हैं यह अस्वीकार नहीं करता, और मकान भी जब मेरा नहीं है, अध्यापक का भी नहीं है, लेखक का भी नहीं है, तो उसे तोड़ कर मैदान कर देने में भी आपत्ति नहीं। लेकिन कला और साहित्य की अधिष्ठात्री देवी के मन में किस भावका उदय हुआ, वह केवल वही जानती हैं।

भला-बुरा संसार में सदा से है। भले को भला, बुरे को बुरा कहने में कोई भी कला कभी आपत्ति नहीं करती। लेकिन संसार में जो कुछ सचमुच ही घटित होता है, उसी को बिना सोचे-विचारे साहित्य का उपकरण बनाने से सत्य हो सकता है, पर सत्य साहित्य नहीं होता है।

अर्थात् जो कुछ घटित होता है उसके अनिन्द्य चित्र को मैं जैसे साहित्य-वस्तु नहीं कहता, वैसे ही जो नहीं घटता है पर समाज या प्रचलित नीति की दृष्टि से वह घटता तो अच्छा होता। कल्पना के अन्दर से उसकी उच्छृंखल गति से भी साहित्य में कहीं विडम्बना पैदा होती है।

मेरे पास समय कम है, अपने वक्तव्य को स्पष्ट नहीं कर सका, इस बात को मैं जानता हूं। लेकिन आधुनिक साहित्य सृजन से समाज की एक श्रेणी के शुभाकांक्षियों के मन में वही अत्यन्त क्षोभ और क्रोध उत्पन्न हुआ है। लेकिन आलोचना को घोरतर बनाने की मुझमें प्रवृत्ति नहीं, समय नहीं, शक्ति भी नहीं ! केवल है, अशेष श्रद्धाभाजन हमारे पूर्ववर्ती साहित्याचार्योंका पदांक-अनुसरण, जिसके करने में कहीं बाधा प्राप्त होकर हम दूसरे पथपर चलनेके लिये बाध्य हो गये हैं, उसीका आभासमात्र आप लोगों के सामन सविनय निवेदन किया।

अन्त में आप लोगों ने मुझे जो गौरव प्रदान किया उसके लिये एक बार फिर हार्दिक धन्यवाद देकर इस छोटे और अक्षम निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

[बंगीय साहित्य परिषद नदिया शाखाके वार्षिक अधिवेशन में सभापतिका अभिभाषण। १० आश्विन, १३३१।]

साहित्य में कला और दुर्नीति

मैं जानता हूँ कि साहित्य परिषद का सभापति होनेके योग्य नहीं हूँ, और मेरी ही तरह जो प्राचीन है, मेरी ही तरह जिनके सिर के बाल और बुद्धि दोनों सफेद हो गये हैं उन्ह भी इस विषयमें लेशमात्र संदेह नहीं। किसी का दिल दुखाने की इच्छा मुझे नहीं थी, फिर भी इस पद को ग्रहण करने के लिये राजी हुआ था, उसका एकमात्र कारण यह है कि अपनी अयोग्यता और भक्ति-भाजनों की मनःपीड़ा, इतनी बड़ी-बड़ी दो-दो बातों के ऊपर। तब बारम्बार यही बात मेरे दिल में पैदा हुई कि इस अप्रत्याशित मनोनय में नवीनों का दल आज विजयी हुआ है। उनके हरे झण्डे का आह्वान मुझे मानना ही पड़ेगा, चाहे, फल उसका कुछ भी क्यों न हो। और सर्वान्तःकरण से यह प्रार्थना भी करता हूं कि आज से उनका यात्रा-पथ उत्तरोत्तर सुगम और साफल्य-मंडित हो।

सोलह वर्ष पहले बंगाल के साहित्यिकों के वार्षिक सम्मेलन का आयोजन जब पहलेपहल शुरू हुआ तब मैं विदेश में था। उसके बहुत दिनों के बाद भी मैंने ऐसी कल्पना भी नहीं की थी कि साहित्य सेवा ही मेरा एकपेशा बन जायेगा। प्रायः दस वर्ष पहले कुछ तरुण साहित्यिकों के आग्रह और प्रबल चेष्टा के फलस्वरूप मैं साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया।

बंगाल की साहित्य साधना के इतिहास म मैं इन दस वर्षं की घटनाओं को ही जानता हूँ। अतएव इस विषय म अगर कुछ कहना ही पड़े, तो इन थोड़े से वर्षों की बात ही मैं कह सकता हूँ।

कुछ महीने पहिले पूज्यपाद रवीन्द्रनाथ ने मुझ से कहा था, कि इस बार अगर तुम लखनऊ, साहित्य-सम्मेलन में जा सके तो अभिभाषण

की जगह एक कहानी लिखकर ले जाना। अभिभाषण की जगह कहानी! मेरे कुछ अचम्भे में आकर पूछने पर, उन्होंने इतना ही कहा था; कि वह कहीं अधिक अच्छा है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ नहीं कहा। इतने वर्षों से जो साहित्य सम्मेलन होता आ रहा है, हो सकता है कि उसके अभि-भाषणों के प्रति उनका आग्रह नहीं है, तो मेरा जो काम है वही मेरे लिये अच्छा है, यही बात उनके मन म थी। एक बार सोचा था, जब लखनऊ नहीं जा सका, तो जहाँ जा रहा हूँ वहीं उनके आजके आदेश का पालन करूँगा। लेकिन नाना कारणों से उस इच्छा को कार्यरूप में परिणत नहीं कर सका। पर आज इस अत्यन्त तुच्छ रचना को पढ़ने के लिये खड़ा होकर मन में केवल यही विचार उठ रहा है, कि कवि की कही बात मेरे लिये बहुत अच्छी थी। एक साधारण साहित्य-सेवक के लिये इतनी बड़ी सभा में खड़े होकर साहित्य के भले-बुरे पर विचार करने जाना जैसी, दूसरी विडम्बना नहीं। बंग-साहित्य के अनेक विभाग हैं दर्शन, विज्ञान, इतिहास। उन विभागीय सभापतियों का पांडित्य असाधारण है, बुद्धि तीक्ष्ण और मार्जित है। उनसे आप लोगों को नये-नये रहस्यों का पता चलेगा। लेकिन मैं एक तुच्छ कहानी लेखक हूँ। कहानी लिखने के सम्बन्ध में दो एक बातें कह सकता हूँ। लेकिन साहित्य के दरबार में उसका मूल्य ही कितना है, लेकिन उतना मूल्य भी मैं आपलोगों को बिना बिचारे देने के लिये नहीं कहता, कभी कहा भी नहीं है, आज भी नहीं कहूँगा। यह मेरी बिल्कुल अपनी बात है। जिस बात को मैं साहित्य-साधना के दस वर्षों से निःसंशय, अकुंठित चित्त से धारण किये हूँ।

इन दस वर्षों में एक बात मैंने आनन्द और गर्व के साथ देखी है कि दिनोंदिन इसकी पाठक संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है और उसी प्रकार इस अभियोग का भी अन्त नहीं कि देश का साहित्य दिन

पर दिन गिरता जा रहा है। पहली बात सच है, तो ठीक ही है और दूसरी यदि सच है, तो यह दुःख और भय की बात है। लेकिन इसके रोकने का और कोई भी उपाय क्यों न हो, साहित्यिकों को केवल कटूउक्तियों के कोड़े लगाकर, उनमे अपनी मर्जी से क्या अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखाई जा सकेंगी ? मनुष्य बैल या घोड़ा नहीं है। आघात का भय उसे है, यह सच है। लेकिन अपमानबोध नामक एक वस्तु भी उसमें है, यह बात भी उतनी ही सच है। उसकी कलम बंद की जा सकती है, पर उससे फरमाइशी पुस्तकें नहीं लिखवाई जा सकतीं। बुरी किताबों का निकलना अच्छा नहीं हैं पर उन्हें रोकने के लिये साहित्य सृजन का द्वार बन्द कर देना हजारों गुना अधिक अकल्याणकर है।

लेकिन क्या देश का साहित्य नवीन साहित्यिकों के हाथों में पड़कर सचमुच नीचे की ओर गिर रहा है अगर यह बात सच है तो मेरा अपराध भी कम नहीं है। इसीलिये आज अत्यन्त संक्षेप में इस बात पर विचार करना है। यह विचार, केवल विचार के लिये ही नहीं। अन्तिम कई वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों की तालिका देखकर मुझे लग रहा है, कि मानों साहित्य-सृजन का उद्गम धीरे-धीरे अवरुद्ध होता जा रहा है, संसार में घासलेटी किताबें ही, एकमात्र घासलेटी नहीं हैं। समालोचना के बहाने दायित्व-विहीन कटूक्तियों के कूड़े कर्कट से वाणी का मन्दिर-पथ आाच्छन्न होता जा रहा है। बंकिमचन्द्र, और उनके चारों ओर की साहित्यिक मंडली ने एक दिन बंगाल के साहित्याकाश को उद्भासित कर रक्खा था। किन्तु मनुष्य चिरंजीवी नहीं हैं, अपना अपना काम करके वे स्वर्ग सिधार गय। उनके प्रदर्शित पथ, उनकी निर्दिष्ट धारा से नवीन साहित्यिकों का मत-भेद दिखाई पड़ा है। भाषा, भाव और आदर्श में, यहां तक कि वह प्रायः सभी विषयों में ही मिलता है। यह अधःपतन है या नहीं, इस बातको मैंने पहिले कभी नहीं कहा है और आज भी नहीं कहता हूँ। इसका

यथार्थ तात्पर्य मैं अभी भी नहीं समझ सका हूँ। यह उपलब्धि की वस्तु है, कवि के अन्तर की निधि है।

संज्ञा का निर्देश करके दूसरे को इसका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। लेकिन साहित्य का एक और पथ है, जो बुद्धि और विचार की वस्तु है। तर्क द्वारा उसे दूसरे को समझाया जा सकता है, मैं आज इसी पक्ष को आपके सामने उपस्थित करना चाहता हूँ। विष्णु शर्मा के समय से आजतक भी हम कहानी के अन्दर से सीख लेना चाहते हैं। यह एक प्रकार से हमारे संस्कार में शामिल हो गया है। इसमें कोई त्रुटि हुई तो हमसे सहा नहीं जाता। क्रोधपूर्ण अभियोगों की जब ज्वार आ जाती है तभी, इधर का बांध तोड़कर हुंकार सुनाई पड़ता है। प्रश्न होता है क्या पाया? कितनी और कौन सी शिक्षा मिली? इस लाभ-नुकसान के पक्षपर ही मैं सबसे पहिले दृष्टिपात करना चाहता हूँ।

मनुष्य अपने संस्कारों के भावों को लेकर ही तो मनुष्य है। और इन संस्कारों और भावों को लेकर ही नवीन साहित्यसेवियों और प्राचीन-पंथियों में संघर्ष छिड़ गया है। संस्कार और भाव के विरुद्ध सौन्दर्य का सृजन नहीं किया जा सकता, इसीलिये यहां निन्दा और कटूक्तियों का सूत्रपात हुआ है। एक दृष्टान्त दे दूं। विधवा विवाह बुरा है, हिन्दुओं में यह मज्जागत संस्कार है। कहानी या उपन्यास में विधवा नायिका का पुर्नविवाह कराकर किसी भी साहित्यिक में यह शक्ति नहीं कि वह निष्ठावान हिन्दू की नजरों में सौन्दर्य का सृजन करे। पढ़ते ही उनका मन कडुआ और विषाक्त हो उठेगा। पुस्तक के दूसरे सारे गुण उनके लिये व्यथ हो जायेंगे। स्वर्गीय विद्यासागर महाशय ने जब सरकार की सहायता से विधाव-विवाह कानून बनवाया, उस समय उन्होंने केवल शास्त्रीय विचार ही किया था, हिन्दू समाज के मन पर विचार नहीं

किया था। इसी लिये कानून तो पास हो गया पर हिन्दू समाज उसे ग्रहण नहीं कर सका। उनकी इतनी बड़ी चेष्टा निष्फल हो गई। निंदा, ग्लानि, निर्यातन बहुत कुछ उन्हें सहना पड़ा था। लेकिन उस समय के किसी भी साहित्य-सेवी ने उनके पक्ष का समर्थन नहीं किया था। शायद इस नये विचार के साथ उन्हें सच्ची सहानभूति नहीं थी, शायद उन्हें सामाजिक अप्रियता का अत्यन्त भय था। जिस किसी भी कारण से क्यों न हो, उस समय की वह विचारधारा वहीं रुद्ध हो गई, समाज-देह के स्तर पर, गृहस्थों के घरों में फल नहीं सकी। लेकिन अगर ऐसा नहीं होता, या इस तरह अगर वे उदासीन नहीं होते, तो निंदा, ग्लानि, निर्यातन सब कुछ उन्हें सहना नहीं पड़ता। पर आज शायद हम हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था का एक दूसरा ही रूप देख पाते। उस समय हिंदुओं की नजरों में जो सौन्दर्य-सृजन, कदर्य, निष्ठुर और मिथ्या लगता, वह आज अर्द्ध शताब्दी के बाद उसके रूप से हमारी आँखें और मन को मुग्ध कर लेता। ऐसा ही तो होता है, साहित्य-साधना में नवीन साहित्यिकों के लिये यही तो सबसे बड़ी सांत्वना है। वह जानता है कि आज का लांछन ही उसके जीवन की एकमात्र वस्तु है, और सब, कुछ नहीं है, भले ही सौ वर्ष बाद के व्याकुल व्यथित नर-नारी सैकड़ों लाखों हाथों से उसकी आज की कालिमा को धो देंगे। शास्त्र-वचन की मर्यादा को ठेस पहुंचाना मेरा उद्‌देश्य नहीं। प्रचलित सामाजिक-विधि-निषेधों की समालोचना करने के लिए नहीं खड़ा हुआ हूँ। मैं केवल इस बात को ही स्मरण करा देना चाहता हूँ कि सैकड़ों करोड़ों वर्षों की प्राचीन दुनिया आज भी उसी तेजी से धावित हो रही है, मानव-मानवी के यात्रा-पथ की सीमा आज भी उतनी ही दूर है। उसकी अंतिम परिणति की मूर्त्ति उतनी ही अनिश्चित है, उतनी ही अज्ञात है। तो क्या केवल उसके कर्त्तव्य

और चिंता की धारा ही का सदा के लिये अंत हो गया है। विचित्र और नई नई दशाओं के अंदर से उसे दिन-रात गुजरना पड़ेगा। उसके न जाने कितने प्रकार के सुख, कितनी प्रकार की आशा आकांक्षायें हैं। रुका नहीं जा सकता, चलना ही होगा, तो क्या अपने चलने पर भी उसका कोई अधिकार नहीं होगा? न जाने किसी सुदूर अतीत में उसे इस अधिकार से सदा के लिए वंचित कर दिया गया है। जो चले गये हैं, जो सुख-दुःख से परे हैं, इस दुनिया का देना-पावना चुकाकर जो लोकांतरित हो गये हैं, उनकी इच्छा, उनकी चिंता, उनके निर्दिष्ट पथ का संकेत ही क्या इतनी बड़ी चीज है? और जो जीवित हैं, व्यथा और वेदना से उनका हृदय जर्जरित है, उनकी आशा, उनकी कामना क्या कुछ भी नहीं है? मृत की इच्छा ही क्या सदा के लिये जीवित के पथ को रोके रहेगी? तरुण साहित्य तो केवल इसी बात को ही कहना चाहता है। उनके विचार, उनके भाव आज असंगत हैं, यहां तक की अन्याय पूर्ण भी लग सकते हैं। लेकिन अगर वे नहीं बोलते हैं तो बोलेगा कौन? मानव की वासना, नरनारी की नितांत-गूढ़-वेदना का विवरण वह नहीं प्रकट करेगा तो कौन करेगा? मनुष्य को मनुष्य पहिचानेगा कैसे, वह कैसे जीवित रहेगा?

आज वह विद्रोही लग सकता है, प्रतिष्ठित-विधि-व्यवस्था के सामने उसकी रचना अद्‌भुत लग सकती है। लेकिन अखबार साहित्य तो नहीं है। वर्तमान की दीवार खड़ी करके तो उसकी चौहद्दी निश्चित नहीं कर दी जा सकती है। उसकी गति भविष्य के बीच में है। आज जिसे आंखों से नहीं देखा जा सकता है, आज जो अभी नहीं आ पहुँचा है, उसीसे उसको पुरस्कार मिलता है, उसी के सामने उसकी संवर्द्धना का आसन बिछा हुआ है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम समाज सुधारक नहीं हैं।

साहित्यिक पर इसका भार नहीं है। बातको स्पष्ट करने के लिये अगर अपना उल्लेख करूं तो अविनय समझकर अपराधी न समझें। 'देहाती समाज' नामक मेरी एक छोटी-सी पुस्तक है। उसकी विधवा रमा ने बाल्यसखा रमेश से प्यार किया था। इसलिये मुझे इतने तिरस्कार सहने पड़े हैं। एक विशिष्ट आलोचक ने ऐसा भी अभियोग किया था कि इतनी बड़ी दुर्नीति को प्रश्रय देने से गाँवों में विधवायें नहीं रह जायँगी। मरने-जीने की बात नहीं कही जा सकती है, प्रत्येक पति के लिये यह गंभीर दुश्चिन्ता का विषय है। लेकिन एक और भी तो पक्ष है। इसको प्रश्रय देना अच्छा होता है या बुरा, हिन्दू समाज स्वर्ग में जाता है या रसातल में, इसके फैसले की जिम्मेदारी मुझपर नहीं है। लेकिन हिन्दू समाज में इसके समाधान के लिये स्थान नहीं था, उसका परिणाम यह हुआ कि इतने बड़े दो महाप्राण नर-नारी का यह जीवन विफल, व्यर्थ, पंगु हो गया। मानव के रुंध हृदय-द्वारपर वेदना की इस बात को ही अगर पहुँचा सका हूँ, तो इससे अधिक मुझे कुछ नहीं करना है।

रमा के व्यर्थ जीवन की तरह यह रचना इस समय व्यर्थ हो सकती है पर भविष्य के न्यायालय में निर्दोषी के लिये इतना बड़ा दंड किसी भी दशा में स्वीकृत नहीं होगा, इस बात को मैं निश्चित रूप से जानता हूँ। यह विश्वास नहीं होता, तो साहित्य-सेवि की कलम उस दिन वहीं रुक जाती।

पहले के बंगला साहित्य के विरुद्ध और जो भी अभियोग क्यों न हो, दुर्नीति का अभियोग नहीं था। उसकी बात तब शायद किसी के ध्यान में नहीं आई थी। यह हाल में आई है। वे कहते हैं, कि आधुनिक साहित्य का सबसे बड़ा अपराध यही है, कि उसके नर-नारी के प्रेम का अधिकांश विवरण दुर्नीतिपरायण है। और उसमें प्रेम ही की भरमार है। अर्थात् नाना दिशाओं

से यही वस्तु मानों मलतः ग्रंथ की प्रतिपाद्य वस्तु हो उठी है।

वे सोलहो आने झूठी बात नहीं कहते हैं। लेकिन उसके दो एक छोटे-मोटे कारणों के होने पर भी मल कारण को मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। समाज नामक वस्तुको मैं मानता हूँ, पर देवता समझ कर नहीं मानता। बहुत दिनों के जमा हुए, नर-नारियों के बहुत से झूठ, बहुतेरे कुसंस्कार, बहुतेरे उपद्रवों के बीच एक दूसरे से मिले हुए हैं। मनुष्य के खाने, पीने, पहिरने के बीच इसका शासन-दंड वहुत सावधान नहीं है, लेकिन इसकी बिल्कुल निष्ठुर मूर्ति दिखाई पड़ती है। केवल नर-नारियों के प्रेम के मामले में मनुष्य को यही सबसे अधिक सामाजिक उत्पीड़न सहना पड़ता है। मनुष्य इससे डरता है, इसकी अधीनता नितांत रूप से स्वीकार करता है। दीर्घकालका जमा हुआ भय का समूह ही, अंत में विधिवत् नियम बन जाता है। समाज इससे किसी को भी मुक्ति नहीं देना चाहता। पुरुष के लिये उतनी कठिनाई नहीं, उसके बच निकलने के रास्ते खुले हुए हैं। लेकिन कहीं भी किसी भी सूत्र से जिसकी निष्कृति का रास्ता नहीं, वह है केवल नारी। इसीलिये सतीत्व की महिमा का प्रचार ही विशुद्ध साहित्य वन गया है! लेकिन इस प्रकार कार्य को करना ही नवीन साहित्यिक ने अगर अपनी साहित्य साधना का सर्व प्रधान कर्त्तव्य नहीं माना हो तो, उसकी निन्दा नहीं की जा सकती। लेकिन कफियत के अन्दर भी उसकी यथार्थ चिन्ता की बहुतेरी चीजें हैं, इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

नवीन साहित्यिक एकनिष्ठ प्रेम की मर्यादा को समझते हैं। उसके प्रति उसके सम्मान और श्रद्धा का अन्त नहीं। लेकिन वह जिस वस्तु को नहीं सह पाता है, वह है इसके नाम पर धोखेबाजी। उसे लगता है कि इस धोखे की दरार से भविष्य के वंशधर, जिस असत्य को अपनी आत्मा म संक्रामित कर जन्म ग्रहण करते हैं, वह उन्हें

जिन्दगी भर कायर, कपटी, निष्ठुर और मिथ्यावादी बना देता है। सुविधा और प्रयोजन के अनुरोध से संसार में कितने ही झूठ को सत्य कह कर चलाना पड़ता है। लेकिन इन्हीं वजूहात से जाति के साहित्य को कलुषित करने जैसा पाप बहुत ही कम है। तात्कालिक प्रयोजन जो कुछ भी क्यों न हो, उसे संकीर्ण दायरे से मुक्त करना ही होगा। साहित्य, राष्ट्रीय ऐश्वर्य के प्रयोजन से भी अतिरिक्त है। आज की प्रात्यहिक आवश्यकता से उसे उड़ा कर नहीं खाया जा सकता है, इस बात को किसी भी दशा में भूलना नहीं चाहिये।

पूर्ण मनष्यत्व सतीत्व से बड़ा है, यही बात मैंने एक दिन कही थी। इस कथन को जहां तक हो सका है गंदा बना कर मेरे विरुद्ध गाली-गलौज की सीमा नहीं रखी गई। मनुष्य मानो अचानक क्षिप्त हो उठा। अत्यन्त सती नारी को भी मैंने कोरी जुआचोरी, जालसाजी करते और झूठी गवाही देते देखा है, और इससे उल्टी बात को देखने का सौभाग्य भी मुझे हुआ है। इस सत्य को नीति-पुस्तक में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। लेकिन बूढ़े, लड़के, लड़कियों को कहानी के बहाने इस नीति-विद्या को सुनाने का भार साहित्यिकों को लेना पड़े तो मैं कहता हूं कि साहित्यकार न रहना ही अच्छा है। सतीत्व की धारणा सदा से एक-सी नहीं रही है। पहिले भी नहीं थी, शायद बाद में भी एक दिन नहीं रहेगी। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं, यह बात अगर साहित्य में भी स्थान नहीं पाती है तो यह सत्य कहाँ जीवित रहेगा।

साहित्य की सुशिक्षा, नीति और लाभ नुकसान की बात इतनी देर करता रहा। जो इससे भी बड़ा है उसका आनन्द, उसका सौन्दर्य-नाना कारणों से उस पर विचार करने का समय नहीं मिल सका। केवल एक बात कह देना चाहता हूँ कि आनन्द और सौन्दर्य केवल बाहर की ही वस्तु नहीं है। केवल सृजन करने की त्रुटि ही है, उसे

ग्रहण करने की अक्षमता नहीं, यह बात किसी भी दशा में सच नहीं। आज यह शायद असुन्दर आनन्दहीन लगता है। लेकिन यही इसकी अन्तिम बात नहीं है, आधुनिक साहित्य के सम्बंध में उस सत्य को याद रखने की आवश्यकता है।

केवल एक बात और कह कर अपना कर्त्तव्य समाप्त करूंगा। अंग्रेजी में आईडिअलिस्टिक और रियलिस्टिक नामक दो बातें हैं। किसी किसी ने यह अभियोग किया है कि आधुनिक बंगला साहित्य भी अधिक रियलिस्टिक हो चला है। एक को निकाल कर दूसरा नहीं हो सकता है। कम से कम जिसे उपन्यास कहते हैं वह नहीं हो सकता है। पर कौन कहां तक किससे सट कर चलेगा, यह निर्भर करता है साहित्यिक की शक्ति और रुचि पर। पर एक अभियोग यह किया जा सकता है कि पहिले की तरह राजे महाराजे, जमीन्दारों के दुःख, दैन्य, द्वंद्वहीन जीवन के इतिहास से आधुनिक साहित्यसेवी का मन अब नहीं भरता है। वे नीचे के स्तर पर उतर आये हैं। यह अफसोस की बात है। बल्कि अभिशप्त, अशेष दुःख के देश में, अपने घमंड को तिलांजलि देकर रूसी साहित्य की तरह, जिस दिन वह समाज के और भी नीचे स्तर पर उतर कर उनके सुख-दुःख, वेदना के बीच खड़ा हो सकेगा, उस दिन यह साहित्य-साधना केवल स्वदेश में ही नहीं विश्व साहित्य में भी अपना स्थान बना लेगी।

लेकिन अब नहीं। आप लोगों का बहुत समय लिया है। अब अधिक नहीं ले सकता। लेकिन बैठने के पहले एक बात और बता देना है। बंगाल के इतिहास में यह विक्रमपुर विशाल गौरव का अधिकारी है। विक्रमपुर पंडितों की भूमि, वीरों का लीला-क्षेत्र, सज्जनों की जन्मभूमि है। मेरे परम श्रद्धास्पद चित्तरंजन यहीं

के हैं। मुंशीगंज में आप लोगों ने मुझे जो मर्यादा प्रदान की है उसे मैं कभी भी नहीं भूल सकूंगा आप लोग मेरा सकृतज्ञ नमस्कार लें।

[मुंशीगंज ढाका में साहित्यसभा में सभापति का अभिभाषण चैत १३३१।]

भारतीय उच्च संगीत

पिछले असाढ़ महीने के "भारतवर्ष" में श्रीयुक्त दिलीपकुमार राय का 'संगीत का संस्कार' शीर्षक एक निवन्ध प्रकाशित हुआ। इसके प्रतिवाद में श्रीयुक्त प्रमथनाथ वंद्योपाध्याय ने एक निबन्ध भारतवर्ष में प्रकाशनार्थ भेजा। लेकिन लेखक को नहीं मालूम कि किस कारण से, दुर्भाग्य से, उक्त निबंध वापिस आने के कारण, बाध्य होकर गरम गरम निबन्ध को जुड़ाने के पहले ही उसे बंगवाणी के उदार अंक में न्यस्त किया गया है। निबन्ध बंगवाणी के माघ अंक में प्रकाशित हुआ है।

श्रीयुक्त प्रमथबाबू ने अपने निबन्ध में एक स्थान पर लिखा है "मैं उस पुरातात्विक की अधिक प्रशंसा करता हूं जिसने एक ताम्र-लेख खोदकर निकाला है और उसे पढ़ा है। लेकिन उस कवि की तारीफ नहीं करता जिसने नूतन गान न गा कर केवल नूतन कुछ करने का गान गाया है। निबन्ध वापिस क्यों आया, इसे समझना कठिन नहीं है। बहुत संभव है भारतवर्ष के वृद्ध सम्पादक दिलीपकुमार के निवन्ध के प्रतिवाद में अपने स्वर्गीय मित्र दिलीप के पिता के प्रति इस अकारण कटाक्ष को हजम नहीं कर सके। और उस कवि ने नूतन गान न गा कर केवल मात्र कुछ नूतन करो का गान ही गाया है। प्रमथ बाबू की इस युक्ति को असत्य समझ कर उनके भेजे हुए इस उच्च कोटि के निबन्ध को वापिस कर दिया हो तो उनको दोष नहीं दिया जा सकता।

जो कुछ भी हो, नहीं छापने का क्या कारण है यह वही जानते हैं। लेकिन दिलीपकुमार के विरुद्ध अधिकांश विषयों में से प्रमथ

बाबू से मैं एकमत हूं, इसमें लेशमात्र संदेह नहीं। यहां तक कि सोलहो आने कहना अत्युक्ति नहीं होगी। प्रमथ बाबू ने हिन्दुस्तानी संगीत को लेकर सिर के बाल सफेद किये हैं, तथापि दिलीप के वक्तव्य का अर्थ ग्रहण करना उनकी शक्ति से परे है। प्रमथ बाबू कहते हैं वह बात के व्यापारी नहीं, अतएव बना कर नाना ढंग से बात नहीं कर सकेंगे। लेकिन एक शब्द में जो गालोगलौज करेंगे, उसमें अस्पष्ट कुछ भी नहीं रहेगा।

प्रमथ बाबू के सिर के बाल पक गये हैं मेरे तो पक कर गिर भी गये हैं। दिलीप कहते हैं हमारे संगीत में कुछ नया करने का समय आया है, चाहे हमारा संगीत कितना ही बड़ा क्यों न हो। क्योंकि गतिशीलता ही जीवन-धर्म का चिन्ह है। लेकिन कहने से क्या होगा। दिलीप के जब एक भी बाल सफेद नहीं हुये हैं तो हम उनको ये बातें स्वीकार नहीं कर सकते।

दिलीप कहते हैं, असल का जितना हमें उत्तराधिकार, सूत्र में मिला है, उसका सूद बढ़ाओ नहीं तो मूल भी जाता रहेगा, यह ज्ञानराज और भावराज का चिरन्तन रहस्य है।

प्रमथ बाबू कहते हैं, इस साधारण सत्य को हम सभी जानते हैं। अवश्य ही जानते हैं।

फिर कहते हैं, किंतु सृजन का काम इतना आसान नहीं है कि कोई भी इच्छा करने पर ही कर सकता है। यह संसार इतना उर्वर होता है...। हिंदुस्तानी संगीत की धारा में यदि पचास साठ वर्षों तक कोई नूतन सृजन न हुआ हो तो वह कोई इतना बड़ा समय नहीं है कि हमें अधीर होना चाहिये।

मेरी राय भी यही है। हमारे बाल सफेद हो गये हैं, दिलीप के नहीं हुये हैं। हम दोनों एक स्वर से कह रहे हैं कि अधीर होकर छटपटाना अन्याय है, संसार इतना उर्वर नहीं है। पचास साठ वर्ष से

अधिक नहीं हुये हैं कि इसी बीच में ऊधम मचावेंगे आगे। और जितना भी क्यों न करो यह साफ कह देता हूँ कि कुछ भी न होगा। इसमें अस्पष्ट कुछ भी नहीं है।

लेकिन इसके बाद भी प्रमथ बाबू कहते हैं जब कोई सृष्टा, सृजन की प्रतिभा लेकर आयेगा तो वह सृजन करेगा ही, जंजीर तोड़ेगा ही, अचलायतन को भूमिसात करेगा ही। उसे कोई रोक या दबा कर नहीं रख सकेगा...। प्रमथ बाबू के इस कथन को मैं सत्य नहीं स्वीकार कर सका। क्योंकि संसार में कितने आदमियों ने मेरा नाम जाना, कितने आदमी मुझे स्वीकार कर रहे हैं उस मुहल्ले के मनुदत्त ने मुझे दबा रखा है। संसार में अविचार नाम वस्तु तक क्यों है जाने दें, यह मेरी व्यक्तिगत बात है। अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने में मुझे बड़ी लज्जा आती है।

लेकिन इसके बाद ही प्रमथ बाबू अपने लम्बे अनुभव के आधार पर उच्च संगीत के सम्बन्ध में जिस सत्य को व्यक्त करते हैं, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रमथ बाबू कहते हैं भारत का उच्च संगीत भावसंगत है। केवल सारेगामापा दबा कर श्रुति-मुखकर शब्द-परम्परा उत्पन्न करने से ही संगीत नहीं होता। संक्षेप में राग-रागिनी का ठाठ या ढांचा भावगत है, पर्दागत नहीं है।

मैं भी यह कहता हूं, और हमारे नाग महाशय की भी यही राय है। पचास से ऊपर की अवस्था में लड़ाई के बाजार में धनवान होकर एक हारमोनियम खरीद कर निरन्तर इस सत्य को सिद्ध कर रहे हैं। वह साफ ही कहते हैं कि सारेगामा और कुछ नहीं है सा के बाद जोर से चिल्लाने से रे होता है और जरा जोर से चिल्लाने से गा होता है, और कुछ और जोर से चिल्लाने से गले से भी सुर निकलता है। बहुत संभव है कि उनके मतानुसार भी उच्च संगीत भावगत है, परदागत नहीं। और इसी को सिद्ध करने के लिए

हारमोनियम की कुँजी दबाकर नाग महाशय भावगत हो जब उच्चांग संगीत की शब्द परम्परा सृजन करते रहते हैं तो वह एक देखने और सुनने की चीज होती है। श्रीयुक्त प्रमथ बाबू के संगीत तत्व से उनका इतना सादृश्य था, मैं भी इतने दिनों तक इसे नहीं जानता था। और तब दरवाजे पर जसी भीड़ इकट्ठी हो गई उससे प्रमथ बाबू के उल्लिखित उस्ताद जी के रियाज की कहानी से अक्षर अक्षर से इतना मेल है कि वह भी लक्ष्य करने की वस्तु है।

प्रमथ बाबू कहते हैं जिस चालका ध्रुपद लुप्तप्राय हो गया है, और जिसके लुप्त हो जाने पर भी दिलीप कुमार के मतानुसार दुःख करने की कोई भी बात नहीं, मेरे मतानुसार वही विशद्ध उच्चकोटि के इस ध्रुपद का नाम खांडार वाणी ध्रुपद है।

बिल्कुल यही है। मेरे मतानुसार भी यही शुद्ध उच्चकोटि का ध्रुपद है। और ऐसा लगता है कि नाग महाशय संप्रति किसी खांडार-वाणी ध्रुपद की चर्चा में लगे हुये हैं। उनकी जय हो।

बैसाख की भारती में दिलीपकुमार ने किसी उस्ताद जी के गले से पहलवान का और किसी उस्ताद जी के गले से बेसुरी आवाज निकलने की बात लिखी है, मैंने पढ़ा नहीं है। प्रमथ बाबू बंगाल के प्रति प्रसन्न नहीं हैं। चटर्जी बनर्जी महाशयों के मुँह से उन्हें गाना अच्छा नहीं लगता पर अधिक दिनों की बात नहीं कि इसी देश के एक चक्रवर्ती महाशय थे, प्रमथ बाबू शायद उन्हें भूल गये हैं।

प्रमथ बाबू लिखते हैं, जिस कारण से आलाप के बाद ध्रुपद, ध्रुपद के बाद ख्याल और ख्याल के बाद टप्पा, ठमरी की सृष्टि हुई थी, उन्हीं कारणों से उन सबों के बाद बंगाल की चीज होने पर भी उच्च संगीत की ओर से मैं उनके विकास का अभिनन्दन नहीं कर सकता।

क्योंकि हम कह रहे हैं कि उनका अतीत से संबन्ध नहीं है।

क्यों ? इसीलिये कि वे बहुत कुछ नामधारियों की तरह अपने विच्छिन्न घमंड से सिर ऊंचा कर रहे हैं । यहाँ तक कि एक व्यक्ति के सफेद बाल और दूसरे के मुण्डे सिर के घमंड के ऊपर भी।

क्यों ? इसलिये कि आज कल यह बड़े मजे की बात दिखाई पड़ती है । अतीत को तुच्छ करके हम केवल प्रतिभा के बल पर भविष्य का निर्माण करने में व्यग्र हैं।

केवल प्रतिभा के बलपर भविष्य का निर्माण करेंगे कैसी हिमाकत है। हम सफेद बाल और मुण्डित मस्तक से कह रहे हैं कि ऐसा नहीं होगा । हम बाधा देंगे ही ।

आजकल प्रतीच्य की कितनी ही विजातीय संगीत की धारायें हमारे अन्दर इस प्रकार से घुसती आ रही हैं कि हम जब कभी अपने प्राच्य-संगीत की चाल या प्रकाश-भंगिमा को थोड़ा भी विचित्र बनाने जाते हैं तो एक खिचड़ी बन जाती है ।

क्यों ? इसलिये कि हम कहते हैं कि वह खिचड़ी बन जाती है ।

क्यों ? इसलिये कि हम कह रहे हैं सौ बार कह रहे हैं कि वे दोनों तेल और पानी की तरह परस्पर विरोधी हैं ।

सफेद बाल और मुण्डित मस्तक एक साथ गला फाड़कर कह रहे हैं कि वे दोनों अगुरु, चन्दन के संग, लेवेन्डर, ओडोकोलोन की तरह परस्पर विरोधी हैं। उफ! अगुरु चन्दन और लेवेन्डर तथा ओडोकोलोन! इतने बड़े तर्क के बाद दिलीपकुमार के पास कहने को क्या बाकी रह सकता है यह हमारी समझ में नहीं आता ।

इसकी बंद्योपाध्याय महाशय शिकायत करते हैं कि खड़े परदे के ऊपर बड़े परदे पर उसी तरह से कूद पड़ना जिस तरह से कोई वीर-पुंगव सोने की लंका की एक छत से दूसरी छत पर कूद पड़े थे·····। इत्यादि-इत्यादि ।

यह अत्यन्त भय की बात है। और प्रमथ बाबू के साथ मैं भी एक स्वर से विरोध करता हूं। छत पर नृत्य शुरू करने से हम जो नीचे गहरी नींद में सोये हुये हैं उन्हें बड़ी परेशानी होती है। इसके अलावा दूसरी आशंकायें भी कम नहीं हैं। कारण यह कि मैं मुण्डित मस्तक हूं। लेकिन सोने की लंका के प्रति जो उदासीन है, वंद्योपाध्याय महाशय के सफेद बालों को देखकर अगर उसे बदन का सफेद लोम समझकर एक से दूसरे छत पर कूदने के लिए मजबूर करे तो मुसीबतों का पारावार नहीं होगा।

प्रमथ बाबू कहते हैं कि ध्रुपद और ख्याल दोनों ही भारतीय संगीत के दो विचित्र और मौलिक विकास हैं, पर दोनों में ध्रुपद ही अधिक सौंदर्यमय है तटस्थ संगीतज्ञमा ही स्वीकार करने के लिये वाध्य हैं।

स्वीकार नहीं करते हैं तो या तो वे तटस्थ नहीं या संगीतज्ञ नहीं। कारण यह है कि एक सफेद बाल और दूसरा मुण्डित मस्तक दोनों एक स्वर से वह रहे हैं। दावे के साथ कह रहे हैं। इसके बाद भी संसार में कोई तर्क रह सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। हम पुनश्च कह रहे हैं कि ध्रुपद सभी प्रकार के गानों में ज्येष्ठ, गरिष्ठ और पूज्यतम है। दुनिया में ऐसा अधकचरा कौन है जो, इतने बड़े अखंड तर्क के सामने भी, लज्जा से सिर नहीं झुका देगा। फिर भी शक्ति से नहीं चलाया। वंद्योपाध्याय महाशय की भूमिका के तर्क को पी ही जाता हूं।

हमारे उस्तादों के संबंध में दिलीपकुमार ने कहा है कि हम छात्रों की ओर से मक्खी पर मक्खी की नकल करने के पक्षपाती हैं अर्थात् छात्रों को ग्रामोफोन बनाकर रखना चाहते हैं। दिलीप कुमार का यह आरोप सोलहो आने निराधार है।

प्रमथ बाबू तो साफ ही कहते हैं, मैंने तो कभी भी अपने छात्रों के निजस्व व्यक्तित्व को दबाकर रखने की चेष्टा नहीं की। कारण यह है कि स्वतंत्र विकास का मौका न देने से शिक्षा का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है..... इत्यादि।

मेरे अपने छात्रों के बारे में मेरी यह राय है। और शिक्षा-दान का यथार्थ उद्देश्य व्यर्थ हो जाय इसे हम दोनों में कोई नहीं चाहता। हां, कुछ अवन्तर होने पर भी इस बात का यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता है कि मेरे अपने छात्र नहीं है। कारण यह है कि काफी चेष्टा करन के वावजूद कोई विद्यार्थी मुझ से सीखना नहीं चाहता। लोगों के मुँह से सुनता हूं, यहां तक कि ऐसे गुस्ताख विद्यार्थी भी हैं, जो कहते हैं कि मुझसे सीखने की अपेक्षा वे प्रमथ बाबू से जाकर सीखेंगे।

जो कुछ भी क्यों न हो हम दोनों विद्यार्थियों के सम्बन्ध में दिलीपकुमार ने के आरोप का बारम्बार प्रतिवाद करते हैं। इस तरह की हीनपंथा का हम दोनों में कोई भी नहीं अवलम्वन करता है। वह भी नहीं और मैं भी नहीं।

एक वात और। हमारे उस्तादों के मुद्रा दोष के सम्बन्ध में दिलीपकुमार ने जो मन्तव्य प्रकट किये है वह बिल्कुल सारहीन और असंगत है। प्रमथबावू ने यथार्थ ही कहा है, मनुष्य जब किसी भाव के आवेश में मतवाला हो जाता है तब उसे होश नहीं रहता है। बिल्कुल यही बात है। होश नहीं रहता। हमारे नाग महाशय जब खांडार-वाणी ध्रुपद की चर्चा करते हैं, उसे दिलीपकुमार आकर आंखों से देख जाये। यथार्थ ही, नही रहता।

लेकिन निबंध लम्बा होता जा रहा है, अब नहीं लिखूगा। वंद्योपाध्याय महाशय की प्रत्येक पंक्ति को उद्धृत करने का लोभ होता है। लेकिन यह संभव नही है। इसलिये विरत रहा। उनके

पक्षी समाज की बिरादरी से निकाले जाने का विवरण जैसा ज्ञान गर्भ है, वैसा ही आश्चर्यजनक भी। शरीर रोमांचित हो उठता है। अन्त में निबंध को समाप्त भी किया है उसी तरह के सारयुक्त कथन से। यथार्थ बात यह है कि सभी विषयों में अधिकारी भेद है। अर्थात् गाना 'गाना' आने से निबंध लिखना होगा और एक पत्रिका में नहीं छपने से दूसरी पत्रिका में छपवाना ही होगा। ऐसा नहीं। अधिकारी भेद है।

[**भारतवर्ष, फाल्गुन १३३१ से**]

आधुनिक साहित्य की कैफियत

शिवपुर की इस छोटी सी समिति की साहित्य सभा की ओर से आप लोगों के अभिनन्दन का भार एक साहित्य-व्यवसायी पर पड़ा है। मैं आप लोगों का ससम्मान अभिनन्दन करता हूं। कुछ ही दिनों के अन्दर कई साहित्यिक जलसे हो गये हैं। उनके आयोजन और आयतन के सामने यह अधिवेशन बहुत ही क्षुद्र है। लेकिन आप लोगों के पदार्पण से इस क्षुद्र वस्तु को आज ही गौरव मिला है उसे छोटा नहीं कहा जा सकता है। मैं इस लोभ को किसी भी तरह नहीं रोक पा रहा हूं।

समग्र विश्व के श्रेष्ठ कवि आज हमारे सभापति हैं। कठिनाई से वे हमें मिले हैं। उन्हें केवल अपने बीच पाने के कारण हमें आनन्द है। सभापति के प्रश्न को लेकर कितने ही क्षेत्रों में मनमुटाव दिखाई पड़ा है। इसीलिये हम लोगों ने तय किया था कि एक ऐसे व्यक्ति को ला हाजिर करेंगे कि जिसके सर्वोच्च आसन के बारे में कोई बहस न उठे। आनन्द-तस्वीर के बीच में मार्मिक भीड़ का कारण रंचमात्र भी न रहे।

सभी तरह की सभा-समितियों में मेरा आना-जाना बहुत कम होता है। कभी तो खबर नहीं मिलती और कभी जाना सम्भव नहीं होता। अतएव साहित्य के नाम पर आम तौर से देश में जो दरबार होता है वहां क्या होता है यह मैं ठीक ठीक नहीं जानता। लेकिन घर बैठा अखबार के जरिये जिन बातों को जान पाता हूँ, उनसे मेरी एक धारणा बन गयी है। आज के समवेत साहित्यिकों के सम्मान में उसी का कुछ आभास देने की चेष्टा करूंगा।

बहुतेरे धनियों के समागम से इस देश में आडम्बरमय इस साहित्यिक जनता के बीच दरिद्र साहित्यिक उपस्थित होते हैं कि नहीं यह मैं नहीं जानता और उपस्थित स्थानों पर भी वहां वे कुछ बोलने का प्रयास करते हैं कि नहीं, यह भी मैं नहीं जानता। शायद वे कुछ बोलते हैं। लेकिन सभा के एक छोर से भूखे, निरीह साहित्य सेवी का क्षीण कंठ प्रबल लोगों के उद्दाम कोलाहल में, बहुत सम्भव है, डूब जाता है। उनकी बातें हमारे कानों तक नहीं पहुंचतीं। लेकिन जिनके कंठ स्वर कोलाहल में डूब नहीं जाते, जिनकी बातें लोगों के कानों तक डंके की चोट पर पहुंचती हैं उनकी आवाज बुलंद है। इसलिये कि वे ईर्ष्या नहीं करते। साहित्य साधना के लिये ३६४ दिनों को साहित्यिकों के लिये छोड़ कर केवल एक दिन उन्होंने अपने हाथ में रखा है। ऐसे विनीत और उदार व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या का होना भी सम्भव नहीं है, लेकिन उनके एक ही दिन का उद्यम सारी सभाओं का अतिक्रमण कर जाता है तो कुछ कहने की जरूरत पड़ जाती है। यही बात होती तो मुझे बोलने की जरूरत ही नहीं पड़ती। मैं सामान्य रूपसे अपना मन्तव्य प्रकट कर रहा हूं।

मैंने लक्ष्य किया है कि साहित्य सृजन के कामको बहुमूल्य समझकर जो समालोचना के काम मे जुट गये हैं वह प्रधानतः दो बातें कहते हैं। दूसरी शाखायें बहुतेरी हैं लेकिन उनके बारे में मैं बाद में कहूँगा। पहली बात वे कहते हैं कि बंगला भाषा जैसी भाषा और किसके पास है। हमारे साहित्य को विश्व साहित्य में स्थान मिला है। हमारे साहित्य को नोबुल पुरस्कार मिला है। यहां तक कि विलायत के साहब भी कह रहे है कि हमारा साहित्य बहुत अच्छा है। ५० वर्षों के अन्दर इतनी बड़ी उन्नति किस देश ने कब की!

उनका दूसरा कथन यह है कि बंगला साहित्य रसातल में चला गया। अब उभर नहीं रहा है। कूड़ा-करकट से बंगला साहित्य भर गया। हमारी बात कोई नहीं सुनता। हाय, हाय, बंकिम जीवित नहीं हैं। डन्डे का प्रहार कौन करेगा, टोकरियों नाटक, उपन्यास, कवितायें निकल रही हैं इनमें सुशिक्षा नहीं है। ये दुर्नीति से भरी पड़ी हैं, इसका बुरा प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। क्योंकि उनके बारे में जो पुस्तकें अभी तक नहीं लिखी गयी हैं उनके प्रति पाठकों में आग्रह नहीं दिखाई दे रहा है, और इतिहास, विज्ञान आदि की अच्छी अच्छी पुस्तकें पाठकों के उत्साह अभाव के कारण लिखी ही नहीं जा रही है।

मैं इस बात को मानता हूँ कि जो पुस्तकें नहीं लिखी गयी हैं उनके पढ़ने का प्रायश्चित क्या है, इसे मैं नहीं जानता। और पाठकों के आग्रह के अभावों से जिन पंडितों का पुस्तकें लिखना बन्द है उनके लिये क्या किया जाय यह भी मैं नहीं जानता। लेकिन टोकरियों पुस्तक लिखने के बारे में मुझे कुछ कहना है। और शायद कुछ कहने का अधिकार भी है। जो लोग लिखित अभियोग उपस्थित करते है क्या उन्होंने हिसाब लगाकर देखा है कि वास्तव में हर महीने कितनी पुस्तकें निकलती है। भली-बुरी कुल मिलाकर आजतक कितने नाटक, उपन्यास, कविता की पुस्तकें बंगला भाषा में प्रकाशित हुई हैं। उनके नाटक और उपन्यासों की तुलना में बंगला में कितने नाटक और उपन्यास हैं कविता की कितनी पुस्तकें निकलती है, नाटक और उपन्यासों से बंगला प्लावित हो गया है। इस साहित्य का आविष्कार किसने किया मैं नहीं जानता। लेकिन अब देखते हैं कि जो लोग अपने को बंग-साहित्य का विचारक मान लेते है, वे ही इस कथन को बिना समझे दुहरा देते हैं। समझ लेते है कि मर्मज्ञ के रूप में

ज्ञान पाने के लिये इससे अच्छा दूसरा रास्ता नहीं। वे बात बात में विश्व-साहित्य का उल्लेख करते हैं। लेकिन अगर विश्व साहित्य से उनका परिचय होता तो वे जानते कि वे जिसे कूड़ा करकट समझ कर घृणा करते हैं वही कूड़ा करकट सभी साहित्यिकों की आधार-शिला है। वही साहित्य का हाड़-मांस है। मेघदूत, चंडीदास, गीतांजलि किसी भी साहित्य में टोकरियों नहीं निकलतीं। और कूड़ाकरकट चिरजीवी नहीं होता, अपना काम करके भर जाता है। वही उसका प्रयोजन है, वही उसकी सार्थकता है। लेकिन उस कूड़ा-करकट के भार को ढोने से देश जिस दिन इन्कार कर देगा वह उन्नति का दिन नहीं, देश के लिये दुर्दिन होगा।

वास्तव में विज्ञान की अच्छी अच्छी पुस्तकें नहीं निकल रही हैं। केवल कविता, उपन्यास निकल रहे हैं। इसका जवाब क्या कथा साहित्य दे, वह केवल इस बात की याद दिला देगा कि बंगला की गीतांजलि में बंगला के 'घर और बाहर' आदि को विश्व साहित्य में आसन मिला है

हाल ही में शोर सुनाई पड़ा है कि आधुनिक उपन्यास लेखकों ने बंकिम साहित्य को डुबो दिया है। बंकिम साहित्य डूबने का नहीं। अतएव उनकी आशंका वृथा है। लेकिन आधुनिक उपन्यासकारों के विरुद्ध यह अभियोग है कि वह बंकिम की भाषा का भाव, रीति, चरित्र सृजन किसी का अनुकरण नहीं करता। अतएव उसका अपराध अक्षम्य है। इसका जबाब देना जरूरी है। उम्र में मैं प्राचीन हो गया हूँ लेकिन साहित्य व्यवसाय के मेरे अभी दस वर्ष भी नहीं पार हुए हैं। अतएव आधुनिकों की ओर से जवाब देना शायद अन्याय नहीं होगा। इसका अभियोग सत्य है, सब बात को मैं निष्पक्ष रूप से स्वीकार करता हूँ। बंकिमचन्द्र के प्रति हममें कम श्रद्धा और भक्ति नहीं है, और इस श्रद्धा के बलपर ही हम उनकी

भाषा और भावको छोड़कर आगे बढ़ने में नहीं झिझक झूठी भक्ति के मोह में आकर, अगर हम तीस साल पहले की चीजों से चिपके रहते तो उसके अभाव से बंगला साहित्य आज मर जाता। देश के कल्याण में एक दिन में वे खुद प्रचलित भाषा और पद्धति छोड़ कर आगे डग बढ़ाने में नहीं हिचकिचाये। उनके उस निर्भीक कर्त्तव्य-बोध के दृष्टान्त को ही आज अगर हम लोगों से साहित्य सृजन में उनसे अधिक अपनाया है, तो इससे उनकी मर्यादा को आंच नहीं लगती और सचमुच ही हम लोगों ने उनकी भाषा, रीति, नीति, चरित्र सृजन, सब कुछ को छोड़ दिया है, तो इसमें दुःख की कोई बात नहीं कि मैं उनकी मर्यादा का उल्लंघन कर रहा हूँ, बात साफ करने के लिये एक उदाहरण देता हूँ आशा है आप इस बात की कभी कल्पना भी नहीं करगे। उनके चन्द्रशेखर को ही लीजिये।

शैवलिनी के सम्बन्ध में लिखा है कि इस तरह प्रेम उत्पन्न हुआ है। इस तरह का अर्थ है, नक्षत्र देखकर नौका के पास गिनकर, माला गूँथ कर गाय के सींगों में पहिनाकर और दो एक बातें और हैं जो मुझे ठीक याद नहीं हैं। लेकिन इसके बाद की घटना अतिशय जटिल है। गंगा में डूब मरने के लिये जाने से लेकर, गोरे की नाव पर चढ़कर पुरुष की कामना करके, पतिगृह छोड़कर जाने तक, सारी बातें निर्भर करती थीं, शैवलिनी के बचपन में यूँ ही जो प्रेम उत्पन्न हुआ था उसी पर। उन दिनों के पाठक भले आदमी थे। और शायद तब के साहित्य के शैशव में इससे अधिक लेखक से उन्होंने मांगा भी नहीं। दुष्कर्म के लिए अंत में शैवलिनी को जो दण्ड भुगतना पड़ा था उसी से वे खुश हो गये थ। लेकिन आज के पाठक अत्यन्त तार्किक होते हैं, वे लेखक की बातों पर विश्वास नहीं करना चाहते हैं। स्वयं इस पर विचार कर देखना चाहते हैं कि शैवलिनी कैसी

थी, उसमें कितना प्रेम उत्पन्न हुआ था, प्रेम का उत्पन्न होना संभव था या नहीं, और इतने बड़े अन्याय करने के लिये उस प्रेम की शक्ति काफी है या नहीं। प्रताप ने एक उतना बड़ा काम किया, लेकिन अबके पाठक शायद बड़ी आसानी से कह बैठेंगे कि उसने ऐसा क्या किया है? शैवलिनी पराए की स्त्री है, गुरु पत्नी है, अपने घर में पाकर किसी ने उसके प्रति अत्याचार नहीं किया, बहुतेरे ऐसा नहीं करते हैं और करना घोर अन्याय होता है, और उसका लड़ाई के बहाने आत्महत्या करना उसमें पौरुष हो सकता है पर यह काम अच्छा नहीं है। परिवार पर, अपनी स्त्री पर यह जो अन्याय किया गया हम उसे पसंद नहीं करते हैं। तो आत्महत्या के लिये प्रायश्चित कैसा, लेकिन मैंने उस जमाने में लोगों को यह कहकर आशीर्वाद देते सुना है कि तुम प्रताप की तरह आदिपुरुष बनो। मनुष्य का मस्तिष्क कितना बदल गया है।

एक और चरित्र का उल्लेख करके मैं इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। वह कृष्णकान्त का वसीयत नामा में रोहिणी का चरित्र है। इस बात को क्यों उठाया? इसे शायद बहुतेरे समझ जायेंगे। उन दिनों और आज में यही एक बड़ा विच्छेद दिखाई पड़ा है। उसके जीवन की समाप्ति तमंचे की गोली से हुई। उसके पापों का दंड इस प्रकार से न मिलने से उसे अंधी लंगड़ी होकर निश्चय ही 'काशी में एक पैसा दो' कहकर भीख मांगते फिरना पड़ता। उससे यह अच्छा ही हुआ, वह मर गई। उसके मरने के बारे में आधुनिक लेखकों और पाठकों में आपत्ति है, ऐसी बात नहीं। लेकिन आग्रह भी नहीं है। वस्तुतः इसके सम्बन्ध में हम बहुत कुछ उदासीन हैं। पाप का दण्ड मिलने से पुस्तक शिक्षाप्रद नहीं होगी। अतएव यह दंड मिलना चाहिये ही। इस चाहिये ही के लिये लेखक को जिस विचित्र उपाय का सहारा लेना पड़ा है, वही हमारे लिए

बड़ी बाधा उठ खड़ी होती है। उसमें गोविन्दलाल को प्यार करने की जो शक्ति थी, वह साधारण नारी के लिए असंभव है। वसीयत-नामे को बदलने के लिए वह कृष्णकान्त जैसे शेर के कमरे में घुसी थी, गोविंदलाल का उपकार करने के लिए, 'वारुणी' के जल में वह इसी तरह जीवन की समाप्ति करने गई थी प्रियतम के लिए, फिर जब उसी रोहिणी ने केवल नीतिपूर्ण उपन्यास के प्रयोजन से ही अकारण ही और क्षण भर के चितवन से सब कुछ भूल कर एक दूसरे अपरिचित पुरुष को गोविन्दलाल से भी कई गुना सुन्दर देखकर प्राण दे दिया, तब पुण्य की विजय और पाप की पराजय सिद्ध करके गृहस्थों की सुशिक्षा के लिए शायद काफी सहायता मिली। लकिन आधुनिक लेखक उसे स्वीकार नहीं कर सका। रोहिणी पापिनी है और उसके लिए हमारे अन्दर कोई सहानुभूति नहीं है। लेकिन उसके प्रति इतना बड़ा अत्याचार करने के लिए हमारा हाथ नहीं उठता है, उस युग और इस युग में यही बहुत बड़ा अन्तर है। यह विधवा रोहिणी का दुर्भाग्य है कि उसने भी गोविन्दलाल को प्यार किया था। यह उसकी दुर्बुद्धि थी, उसकी दुर्बलता थी। लेकिन पापों के संग मिला कर जब इन्हें एकत्र करके मुहर लगा देने के लिए अनुरोध आता है तो उस अनुरोध को स्वीकार करने को हम अकल्याणकर समझते हैं।

प्रवृत्ति को बुद्धि के बटखरे से तौल कर साहित्य का मूल्यांकन करने जाने पर नतीजा क्या होता है उसी का एक उदाहरण दे रहा हूँ। जरा व्यक्तिगत होने पर भी मुझे क्षमा करेंगे। 'देहाती समाज' नामक एक पुस्तक है। उसमें विधवा रमा ने रमेश से प्यार किया था, इस बात को देख कर उस दिन एक प्रवीण साहित्यिक और समालोचक ने 'साहित्य की स्वास्थ्य-रक्षा' नामक पुस्तक में रमा का इस प्रकार से तिरस्कार किया है। 'कहा जाता था कि तुम बड़ी बुद्धिमती हो। तुम

बुद्धिबल से पिता की जमींदारी की देखभाल करती हो, लेकिन अपने चित्त का दमन नहीं कर पाई। तुम यहां तक सतर्क हो कि रमेश के नौकर के नाम से पुलिस में हुलिया लिखा रखा। तुम शिव की पूजा करती हो, उसकी सार्थकता कहां है? तुम्हारा यह पतन बिल्कुल इच्छाकृत है।' इस आरोप का क्या कोई जबाब है, विशेष कर के साहित्यिक होकर। साहित्यिक मनुष्य को भी कभी इस प्रकार से उत्तरदायी बनाना चाहता है?

वही भलेबुरे, उसी उचित अनुचित का प्रश्न है। केवल इसी उचित अनुचित ने ही रोहिणी को गोविन्दलाल का लक्ष्य बना कर खड़ा किया था। जहां प्यार उचित नहीं है, वहां प्यार करना कितना भी बड़ा अपराध क्यों न हो, विश्वास-घातिनी से कहीं बढ़ कर अपराध मृत्यु के समय अभागिनी के मस्तक पर बंकिमचन्द्र को थोप देना ही पड़ा। इस असंगत ज़बरदस्ती को ही आधुनिक साहित्यिक स्वीकार नहीं कर पा रहा है। भला-बुरा संसार में सदा से है। शायद सदा रहेगा भी। भले को भला, बुरे को बुरा वह भी कहता है, बुरे की वकालत करने के लिए कभी कोई साहित्यिक साहित्य के अखाड़े में नहीं उतरता। लेकिन भुलावा देकर नीति की शिक्षा देने को भी वह अपना कर्त्तव्य नहीं मानता है। वह दुर्नीति का भी प्रचार नहीं करता है। जरा गहराई में जा कर देखने से उसकी साहित्यिक दुर्नीति की जड़ में शायद यही एक प्रचेष्टा दिखाई पड़ेगी कि वह मनुष्यको मनुष्य के रूप में ही प्रतिपन्न करना चाहता है।

[१६ आषाढ़ १३३० में हबड़ा शहर के शिवपुर इन्सटीट्यूट में साहित्य सभा में पठित]।

साहित्य की रीति और नीति

श्रावण की 'विचित्रा' पत्रिका में विश्वकवि र ीन्द्रनाथ ने साहित्य के धर्म का निरूपण किया है और अगले अंक में डाक्टर श्रीयुक्त नरेश-चन्द्र सनगुप्त ने उपर्युक्त धर्म की सीमा निश्चित करते हुये बड़ी श्रद्धा से कवि के उदाहरणों को रूपको और तर्कों को सविनय हास्य रस की रचना कहा है।

दोनों में मतभेद प्रधानतः आधुनिक साहित्य क आबरूपन और बेआबरूपन को लेकर दिखाई पड़ा है।

इसी बीच बिना कसूर के मेरी हालत करुण हो गई है। नरेशचन्द्र के विरोधी दल के श्री सजनीकांत ने 'शनिवारेर चिठि' में मेरे मतामत को इतने प्रांजल और स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है कि थूक निगल कर, सिर खुजला कर हां और ना का एक साथ ही उच्चारण करके कतरा कर भाग खड़े होने के लिए सूरत नहीं रखी है। बिलकुल शेर के मुंह में ठेल दिया है।

इधर मुसीबत यह हो गई है कि समय की गति के साथ मेरे भी दो चार भक्त बन गये हैं, वे यह कहकर मुझे उत्तेजित कर रहे हैं कि तुम्हीं किससे कम हो ? अपनी राय प्रचारित कर दो।

मैं कहता हूं कि मान लो ऐसा कर दिया, पर उसके आगे खुद ठीक ठीक किस दल में हूँ इसे नहीं जानता, इसके अलावा उधर नरेश बाबू हैं। वह केवल बड़े पंडित ही नहीं, बड़े वकील भी हैं। उनके जिरह के पराक्रम से कवि का तर्क हास्यरचना बन गई है, उस जिरह के पेच में पड़ने पर मैं तो एक क्षण भी जिन्दा नहीं रहूंगा। कवि फिर भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति

के स्तर पर पहुंच गये हैं। मुझे शायद व्याप्ति और अव्याप्ति कुछ भी नहीं मिलेगी। त्रिशंकु की तरह शून्य में लटका रहूँगा।

भक्तगण कहते हैं, आप डरपोक हैं।

मैं कहता हूं, नहीं हूं।

वे कहते हैं, तब सिद्ध कीजिये।

मैं कहता हूं, कि सिद्ध करना क्या सहज मामला है।

रस सृजन, रसोद्बोधन आदि के रस वस्तु की तरह अस्पष्ट वस्तु संसार में कोई दूसरी है क्या? इसे केवल हास्य की रचना के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन इसके लिय फिलहाल मेरे पास समय नहीं है।

यह तो हुई मेरे पक्ष की बात। उधर की बात नहीं जानता, पर अनुभव कर सकता हूं।

प्रिय पात्रों न जाकर कवि को पकड़ा है। महाशय, अब तो हम जान नहीं पा रहे हैं। अब आप अस्त्र गहिये। नहीं, नहीं, तीर धनुप नहीं, गदा लीजिये। घुमाकर उस अति आधुनिक साहित्यिक दल की ओर फेंक दीजिये। निशाना? कोई जरूरत नहीं है। वहाँ एक साथ ही बहुत रहते हैं।

कवि की वह गदा अंधेरे में आकाश से गिरी है। इससे इप्सित लाभ भले ही न हो, शब्द और धूल काफी उड़ी है। नरेशचन्द्र चौंक कर जग पड़े हैं और विनीत, क्रुद्ध, कंठ स्वर में बार बार प्रश्न कर रहे हैं, कि बताइये किसको लक्ष्य बनाया गया है? बतलाइये क्यों लक्ष्य किया है; हाँ या ना बतलाइये?

लेकिन यह प्रश्न अवैध है। क्योंकि कवि तो साल में तेरह महीने विलायत में रहते हैं। वहाँ क्या जाने कि तुम्हारी खड्गहस्ता शुचि घरनी अनुरूपा कौन है, और तुम्हारे बंशीधारी अशुचि धर्मी शैलजा–प्रेमेन्द्र–नजरूल–कल्लोल–काली–कलम के दल में कौन है? वह क्या

जानें कि कब किस महीयसी जननी ने अति आधुनिक साहित्यिकों को नेस्त-नाबूद करने के लिये भविष्य की माताओं को सौर में ही सन्तान को मार डालने का सद् उपदेश देकर नैतिक उच्छ्वास की पराकाष्ठा दिखाई थी। और कब शैलजानन्द ने कुली मजदूरों की नैतिक हीनता की कहानी लिख कर अपने अभिजात्य से हाथ धो दिया है। इन बातों का अध्ययन करने के लिये समय, धैर्य, प्रवृत्ति, कोई भी चीज कवि में नहीं है। उनके पास बहुतेरे काम हैं। अचानक उनकी एक-आध छोटी-मोटी रचना जो सामने दिखलाई पड़ी है उनसे उनकी धारणा बन गई है कि आधुनिक बंगला साहित्य की आबरू और आधिपत्य दोनों ही मिट गये। चितपुर रोड पर अब बारम्बार पगध्वनि सुनाई पड़ रही है। आधुनिक साहित्यिकों के प्रति कवि के इतने बड़े अविचार से केवल नरेशचन्द्र को ही नहीं मेरे भी अचरज और व्यथा का अंत नहीं।

भक्तों के वचन से बढ़ कर प्रामाणिक दूसरी गवाही और क्या हो सकती है? अतएव उन्हें निश्चित रूप से विश्वास हो गया है कि आधुनिक साहित्य में केवल सत्य का नाम लेकर सिर्फ नर-नारी के यौन-मिलन के शारीरिक मामले को ही अलंकृत किया जा रहा है। इसमें लज्जा की बात नहीं, शर्म की बात नहीं, श्री नहीं, सौंदर्य नहीं, रस बोध का वाष्प नहीं है, है केवल फ्रायड का मनोविश्लेषण। लेकिन किसी भी साहि-त्यिक को बुला कर अगर पूछ लेते तो सुनते कि उनमें प्रत्येक जानता है कि सत्य मात्र ही साहित्य नहीं हो जाता है। संसार में ऐसी कितनी ही गंदी सच्ची घटनायें हैं जिनको केन्द्र बना कर किसी भी तरह साहित्य की रचना नहीं की जा सकती है।

कवि ने अचानक देखा है कि सहजन, बक, कोहड़ा, आदि

कई प्रकार के फूलों को काव्य में स्थान नहीं मिला है। गुलाब जामुन के फूल को भी नहीं। यद्यपि वह सभी मामले में शिरीष के फूलों के समतुल्य हैं। क्यों? इसलिये कि मनुष्य खाते हैं। रसोई घर ने उनकी जात ले ली है। इसलिये उदाहरण के लिये गंगादेवी के मगर के पास दौड़ गये हैं। यद्यपि उनके निकट ही सरस्वती के वाहन हंस को खाकर मनुष्य ने समाप्त कर दिया, इधर उनका ध्यान नहीं गया। कुमुद के फूल के बीज से उपहार होने के लिये लावा बनता है, ऐसे कमल के बीज को भी भून कर खाने से लोग बाज नहीं आते हैं। तिल के फूल के साथ नाक की, केले के वृक्ष के साथ सुन्दरी के पैरों की उपमा, काव्य में दुर्लभ नहीं है। लेकिन पके हुए मर्तबान के केले के प्रति वितृष्णा की निन्दा किसी कवि के मुँह से नहीं सुनी है। आज नरेशचन्द्र ने उन्हें वृथा ही स्मरण करा दिया है। बिम्ब फल की बहुतेरे लोग तरकारी बनाते हैं। जवाब में कवि क्या कहेंगे नहीं जानता, पर उनके भक्त शायद गुस्से में आकर जवाब देगें, कि खाना अन्याय है। जो खाता है वह सत् साहित्य के प्रति विद्वेश के कारण ही ऐसा करता है।

लेकिन इस बात को लेकर निबन्ध का कलेवर बढ़ाना व्यर्थ है। यह न तो युक्ति है न तर्क ही, न किसी काम में ही आता है। लेकिन इसी तरह के इने गिने बेतरतीब दृष्टांतों को जुटाकर कवि सदा से जो कुछ दावे के साथ कहते हैं उसके बाद अब कोई संदेह नहीं रहता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह ठीक है, और जो कुछ तुम कर रहे हो वह गलत है।

लेकिन मैं यह नहीं कहता कि आधुनिक बंगला साहित्य में दुःख के लिये कोई कारण नहीं, या रवीन्द्रनाथ का इस प्रकार का रुख बिल्कुल आकस्मिक है। उन्हें शायद याद नहीं है कि कुछ वर्ष

पहिले मुझसे एक बार कहा था कि उस दिन उनके विद्यालय के एक बारह तेरह साल के लड़के ने 'पतिता' के संबंध में एक कहानी लिखी है।

मुझे बचपन की एक घटना याद आती है। हमारे छोटे भैया ने अचानक कवि-यशोलुब्ध होकर काव्यकला में मनोनिवेश किया। और बंगला भाषा में गंभीर भावों को व्यक्त करने में काफी सुविधा नहीं होती है, इसलिये अंग्रेजी भाषा में ही कविता लिखी। लिखी या चोरी की, नहीं जानता पर कविता मुझे याद है :

A lion killed a mouse
And carried it into his house;
Then cried his mother,
And therefore cried his sister !

छन्द और भाव की दृष्टि से कविता अनिन्द्य है, लेकिन तर्क का तूफान उठ खड़ा हुआ। 'मादर' किसकी ? सिंह की या चूहे की ? बड़ी बहू ने क्षण भर सुन कर कहा, नहीं नहीं, उनकी नहीं, वह कवि की 'मादर' है। 'पतिता' पर कहानी लिखने की बात सुन कर बहूजी शायद कहेंगी, यहाँ ोना चाहिये, ब्रह्मचर्य विद्यालय के अधिकारियों को और किसी को नहीं। यह तो हुई आधुनिक साहित्यिक की बात। दूसरी ओर साधु साहित्य में भी तरुण कवियों की कमी नहीं है। इस दिशा में जो भी कविता या गीत लिखते हैं, वही लिखते हैं, तुम्हारी वीणा मेरे तारों में बज रही है। पंक्ति पंक्ति में तुम्हारी भव्य मूर्ति की झलक देख रहा हूं। हृदय में तुम्हारी मूक पद-ध्वनि सुन रहा हूं। पार उतरने के घाट पर बैठे बैठे सांझ हो गई। मल्लाह अब पार करो। आदि आदि।

एक उदाहरण दूं। भादों महीने की 'केतकी' पत्रिका में नीचे लिखा गीत छपी है—

तोमार भांडार गाने तोमाय नेव चिनि।
पराण पाति शुनबो पायेर रिनि झिनि।
(तोमार) काल बोशेखीर झड़ तोमाय नेब देखे
(तोमार) श्रावण धारा अंगे आमार नेब मेखे।
(आमार) बुकेर माझे तोमार आघात चिन्हखानि
आमार रोदनेर माझे तोमार दैववाणी!
भूल करे जे भुलबो तोमाय हबे ना ता
(तोमार) आघात एले कोथाय बा तार
लुकाबो व्यथा? आमार छड़िये पड़ल सकल खाने—
सारा बुके आमार जड़िये गेल सकल हिया
दुःखे सुखे! सेथाय आमि तोमाय खुंजे नेव चिनि—
(आमार) पराण पाति शुनबो नूपुर रिनि झिनि।

ऊपर उद्धृत अंग्रेजी कविता की तरह यह गीत भी अनिन्द्य है। क्या झंकार में, क्या भाव की गहराई में, क्या वैराग्य की वेदना में। 'केतकी' के तरुण सम्पादक से पूछा कि रचयिता की उम्र कितनी है। वह मित्र-गौरव से बोले, यहीं पन्द्रह सोलह साल से अधिक नहीं है।

मन ही मन लंबी साँस लकर सोचा, देश भरके साहित्यिक बालक बालिकाओं का दल जब प्रह्लाद बन गया और 'क' लिखते हुए कृष्ण की याद में रोकर व्याकुल होने लगा तब अरे वृद्ध! सर के सारे बालों को पका कर तू किस लिये जिन्दा है?

अनुकरण में साहित्य सृजन नहीं है। अच्छे का भी नहीं, बुरे का भी नहीं। हृदय की सच्ची अनुभूति आनन्द और वेदना के आलोड़न से अलंकृत होकर वाक्य में विकसित न हो उठने से साहित्य नहीं

बनता है। वृद्ध कवि की 'गीतांजलि' जितना बड़ा काव्य है, उनकी जवानी की 'चित्रांगदा' भी उतना ही बड़ा काव्य-सृजन है। लांछना का आघात और गौरव की माला जिस किसी भी प्रकार से उन पर क्यों न वर्षित हो, वे अनुभूतिहीन वाक्य जितने भी अलंकृत क्यों न हों, व्यर्थ हैं। पतिता का अनुकरण व्यर्थ है। 'गीतांजलि' का अनुकरण भी उतना ही व्यर्थ है। देश की साहित्य-संपदा इससे रंच-मात्र भी नहीं बढ़ती।

मैंने पहले ही कहा है कि रस वस्तु की आलोचना मैं नहीं कर सकूंगा। क्योंकि इसे मैं नहीं जानता। रसिक अरसिक की संज्ञा का निर्देश भी मुझसे नहीं होगा। कवि के बोध की क्षुधा और आत्मा की क्षुधा ठीक ठीक क्या है, और किस चीज से मिटती है, यह मेरी समझ से परे है। लेकिन एक बात जानता हूं कि काव्य-साहित्य और कथा-साहित्य दोनों एक चीज नहीं हैं। आधुनिक उपन्यास-साहित्य तो है ही नहीं। 'सोनारतरी' जिस चीज को लेकर चलती है, 'आँख की किरकिरी' का काम उससे नहीं चलता है। सहजन के फूल, बक के फूल की 'सोनारतरी' में आवश्यकता नहीं, पर विनोदिनी के रसोईघर का काम इनके बगैर नहीं चल सकता। जन-मानवहीन मैदान और पंखवाले घोड़े से काव्य का काम चलता है मगर उपन्यास साहित्य का नहीं। यहां घोड़े को चारों पैरों के बल पर दौड़ना पड़ता है। डैने फैला कर उड़ने से काम नहीं चलता।

कवि ने साहित्य-धर्म शीर्षक निबन्ध में लिखा है :

"मध्ययुग में किसी समय योरप में हथियारों से शासन का दबदबा था। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, इस बात को कहने से मुँह बन्द कर दिया गया था। वे भूल गये थे कि विज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान का ही एकाधिपत्य है। उसका सिंहासन धर्म के शासन की सीमा के बाहर है। आज उल्टी बात दिखाई पड़ती है।

प्रबल होकर विज्ञान कहीं भी अपनी सीमा मानने को तैयार नहीं। उसके प्रभाव ने मानो मन के सभी विभागों में अपने प्यादों को भेज दिया है। नई क्षमता उसकी अनुमति से कहीं भी अनधिकार प्रवेश करने में हिचकिचाती नहीं। विज्ञान नामक वस्तु व्यक्ति-स्वभाव-वर्जित है। सत्य के सम्बन्ध में पक्षपात-रहित कौतूहल ही उसका धर्म है। कौतूहल का यह घेरा धीरे धीरे आज के साहित्य को भी घेरता जा रहा है।"

कवि के इस कथन में कितनी ही शिकायतें निहित हैं। अतएव उनका कुछ परीक्षण कर देखना चाहता हूं। हो सकता है कि विज्ञान के प्रति कवि के मन में एक स्वाभाविक विमुखता है। मगर विज्ञान के क्षेत्र से किस चीज का बोध होता है यह मेरी समझ में नहीं आया। विज्ञान से अगर केवल यौन-मनोविज्ञान, शरीर-स्थान विद्या अथवा स्त्री-रोग-विज्ञान का बोध होता तो साहित्य के अंदर इनके अबाध प्रवेश को मैं भी रोकता। केवल अवांछित होने के कारण नहीं, अकारण और असंगत होने के कारण आपत्ति करता। पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है यह कितनी भी बड़ी बात क्यों न हो, साहित्य मंदिर में इसका प्रयोजन गौण है। लेकिन यह जिस सुविन्यस्त, संयत, चिंताधारा का फल है उस चिंता के बगैर काव्य का काम भले ही चले, पर उपन्यास का काम नहीं चलता। विज्ञान तो केवल पक्षपात रहित कौतूहल मात्र ही नहीं है। वह कार्य कारण के यथार्थ सम्बन्ध का विचार है। चार और चार आठ होते हैं और आठ से चार निकाल देने से चार रह जाते हैं, यही विज्ञान है। इस मनोभाव से डरने की कौन सी बात है? लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि गंदगी साहित्य के अंतरगत नहीं है। इस बात को मैंने पहले ही कहा है कि विज्ञान होने पर भी नहीं, कहानी के बहाने धातुविद्या सिखाने

को मैं साहित्य नहीं कहता। उपन्यास के आकार में कामशास्त्र के प्रचार को भी मैं साहित्य नहीं समझता। बंगाल का एक भी अति आधुनिक साहित्य-सेवी शायद इस बात को नहीं कहता।

विज्ञान को सम्पूर्णरूप से अस्वीकार करके धर्मपुस्तक लिखी जा सकती है, आध्यात्मिक कविता की रचना की जा सकती है। परियों की कहानी का साहित्य भी नहीं रचा जा सकता है, ऐसी बात नहीं। मगर उपन्यास साहित्य के लिये यही श्रेष्ठ पथ नहीं है। चौबीस वर्ष का राजा का लड़का जन-मानव-हीन मैदान के दुर्गमपथ को पार कर राजकन्या की तलाश में चला। कोतवाल के बेटे जैसी जासूस की वुद्धि उसमें नहीं है, है केवल रस। यही मेरे लिये काफी है। इस रस को उपभोग करने के लायक रसिक व्यक्तियों की संसार में कमी नहीं, यह मैं मानता हूँ। लेकिन भिन्न रुचि के व्यक्ति भी तो संसार में हैं। अगर वे जाकर कहते हैं कि राजकुमार तुम्हारे मन में राजकुमारी के रूप यौवन को स्थान नहीं मिला है। दहेज में आधे राज का भी उसे कोई ख्याल नहीं है। तुम महान हो, कन्या उपले बटोरनेवाली कन्या नहीं है, राजा की कन्या है। तुम्हारे लिये यही काफी है। मनोविज्ञान को लाने की आवश्यकता नहीं। लेकिन राजकुमार तुम अपने मन की बात जरा खोल कर नहीं कहते हो तो इस उच्चांग के रस-साहित्य के सारे रस की उपलब्धि नहीं कर पा रहा हूं। तो इन लोगों के मुंह को कौन बन्द करेगा?

इस तरह के उदाहरण स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य की रचनाओं में मिलते हैं। दिवंगत साहित्यिक के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने के लिये इसका उल्लेख कर रहा हूँ। एक अवैज्ञानिक मनोवृत्ति की असंभव कल्पना के उदाहरण के तौर पर, बंगाल में जिनके पाठकों की कमी नहीं। मैंने स्वयं देखा है कि मोदी की दुकान पर एक

आदमी किताब पढ़ रहा है। और बहुतेरे लोग आंसू बहाते हुए उस साहित्य सुधा का पान कर रहे हैं। निष्ठावान सच्चरित्र दरिद्र नायक कालीमाता से स्वप्न के आदेश पाकर पेड़ के नीचे से सात घड़े सोने की मुहरें के निकालकर बड़ा आदमी हो गया। लड़का मर गया मगर डर की कोई बात नहीं। श्मशान में जटाजूटधारी तेज-पुञ्ज कलेवर एक सन्यासी के आकस्मिक आविर्भाव से लड़का चिता पर 'पिता' बोल उठा। रसिक श्रोताओं का दल आंसू बहाने लगा। उनके आनन्द की सीमा नहीं। वहाँ कोई भी यह प्रश्न नहीं करता कि क्यों? इसलिये वे कहते हैं कि दरिद्र नायक बड़ा आदमी बन गया, यही काफी है। मरा लड़का जिन्दा हो गया, हमारे लिये यह बहुत आवश्यक है। इसीसे हमारे बोध की क्षुधा, आत्मा की क्षुधा, दूर होती है। यह अनिर्वचनीय है। इस प्रकार के साहित्य से ही हमारे हृदय मे, हृदय के वसन्त-लोक में कल्पलता के फूल खिलते ह।

झगड़े की कौन सी बात है? लेकिन अगर मैं यह काम न कर सकूँ? अपनी पुस्तक के दरिद्र नायक को कालीमाता की कृपा का पात्र न बना सकूँ, जटाजूटधारी सन्यासी ढूंढ़ न पाकर मरे लड़के का दाह करने के जिये बाध्य होऊँ, तो निश्चित रूप से जानता हूँ, कि वे मेरी पुस्तक को जला कर राख बना देंगे। लेकिन चारा ही क्या है? हाथ जोड़कर चतुरानन से कहूँगा कि वे मेरी और कुछ पुस्तकें जलायें। इसे मैं बरदाश्त कर सकूंगा पर इन रसिक व्यक्तियों की आत्माकी क्षुधा—बोध की क्षुधा, मिटाने का सौभाग्य, "शिरसि मा लिख, मा लिख।"

लेकिन क्यों? इसलिये कि काव्य-साहित्य और कथा-साहित्य एक वस्तु नहीं हैं। इनका धर्म भी एक नहीं है। इनकी सीमा भी एक नहीं है और मनुष्य के बोध की क्षुधा और आत्मा की क्षुधा

में जाति-भेद इतना गहरा और विस्तृत है कि वैज्ञानिक मनोभाव-नियंत्रित-कल्पना को तिलाञ्जलि दे देने से एक प्रकार से इसका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

कवि के कंकड़-कमल के उदाहरण के बारे में नरेशचन्द्र का कहना है कि यह तर्क भी नहीं है और नैयायिक का दृष्टांत भी नहीं है। अतएव यह हास्य रस की रचना है। मेरा खयाल है कि यह शायद साध्य हो सकता है, लेकिन अत्यन्त कठिन, मैं इसका तात्पर्य नहीं समझ पाया। वस्तुतः कंकड़ वरण के योग्य है या कमल है, गौरइया अच्छी है या मोटरकार अच्छी है, यह बतलाना बहुत कठिन है। लेकिन कवि ने अपने 'साहित्य-धर्म' में नर-नारी के यौन-मिलन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है मुझे लगता है कि उपन्यास साहित्य में भी ऐसी ही बात है। उनका कथन शायद यही है कि यह वस्तु तो है ही, लेकिन मनुष्य में इसके जो दो भेद हैं, एक दैहिक और दूसरा मानसिक, एक पाशव और दूसरा अध्यात्मिक, इनमें से किनको साहित्य में अलंकृत किया जाय, असल प्रश्न यही है। यथार्थ में यही असल प्रश्न होना चाहिये। नरेशचन्द्र का कहना है कि इसकी सीमा निश्चित कर दीजिये। लेकिन इसकी कोई सुस्पष्ट सीमा-रेखा है क्या कि इच्छा होने पर ही उंगली से दिखा दी जा सकती है। सब कुछ निर्भर करता है लेखक की शिक्षा, रुचि और शक्ति पर। एक के हाथ में जो रस का निर्झर बन जाता है दूसरे के हाथ में वही कदर्यता से पंकिल हो उठता है। श्लील, अश्लील, आबरू, बेआबरू, इन सारी बहस की बातों को छोड़कर उनके असल उपदेश को समस्त साहित्य-सेवियों को सविनय श्रद्धा के साथ ग्रहण करना चाहिये। नर-नारी का यौन-मिलन सभी रस-साहित्य का आधार है। इस सत्य को कवि ने अस्वीकार नहीं किया है। फिर भी उनका यथार्थ कथन यह है कि आधार की तरह

वह वस्तु साहित्य के गहरे और गोपन अंश में ही रहे। नींव जितनी ही नीचे और जितनी प्रच्छन्न रहती है महल उतना ही मजबूत होता है, शिल्पी भी अपनी इच्छा से उतना ही कार्य कर सकता है। पेड़ की जड़, पेड़ का जीवन और फल फूल के लिये जितनी भी जरूरी क्यों न हो उसे खोदकर ऊपर लाने से उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। जीवन भी सूख जाता है। यह अभ्रांत है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यही बात आधुनिक साहित्य में घट रही है, या नहीं, वह प्रश्न अलग है। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं से कितन ही दृष्टांत देकर नरेशचन्द्र लिखते हैं,—

"शरीर के सारे व्यापार अपांक्तेय नहीं है। क्योंकि बंकिमचन्द्र से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी साहित्य-सम्राटों ने चुम्बन का स्थान स्थायी बना दिया है। आलिंगन भी चल गया है।"

लेकिन आलिंगन तो दूर की बात रही। चुम्बन शब्द को भी अपनी पुस्तक में नितान्त बाध्य न होने पर मैं नहीं देसकता। उससे कन्नी काट जाता हूँ। नर-नारी में यह है, जानता हूँ। चलता है, जानता हूँ। दोष की बात है यह नहीं कहता, फिर भी न जाने क्यों मुझसे लिखा नहीं जाता। हमारे समाज में इस वस्तु को लोग गोपन रखना चाहते हैं। शायद इसीलिये लंबे संस्कार के कारण योरोपीय साहित्य की तरह इसके जाहिरा डिमान्स्ट्रेशन से शर्माता हूँ। बहुत संभव है मेरी दुर्बलता हो। लकिन सोचता हूँ, इस दुर्बलता को लेकर ही तो मैंने अनेक प्रणय-चित्र लिपि-बद्ध किये हैं, मुश्किल में तो नहीं पड़ा। काव्य साहित्य एक वस्तु है, कथा साहित्य दूसरी वस्तु है। 'हृदय-यमुना', 'स्तन', 'विजयनी', 'चित्रांगदा' आदि काव्यों में जो कुछ भी क्यों न घटित हो, कथा-साहित्य में ऐसा लगता है कि मेरी तरह कवि इस दुर्बलता से ऊपर नहीं उठ सके हैं।

शायद इसी तरह के दो एक छोटी-मोटी त्रुटियों की बात लोगों से सुनकर कवि अतिशय खिन्न हुए हैं। "विदेश से लाई हुई" यह बात अवश्य ही उनके लिये क्षोभ का कारण है। देशभेद से साहित्य की भाषा भी बदलती है मगर सभी साहित्य में देश विदेश का भेद नहीं है इस सत्य को कवि जानते हैं। और सबसे अधिक ही जानते हैं। नहीं तो आज सारे संसार के लोग उन्हें विश्वकवि की मर्यादा नहीं देते। कवि का सृजन समुद्र की तरह असीम है। प्रमाण है जानता हूँ। फिर भी जो अपने मत के अनुकूल हो उसी समुद्र से नजीर पेश करके खिल्ली उड़ाना अविनय ही नहीं है, अन्याय भी है।

कवि ने कहा—"भारत महासागर के उस पार अर्थात् यूरोप से अगर प्रश्न किया जाय कि तुम्हारे साहित्य में यह हल्ला क्यों? तो उत्तर मिलता है कि हल्ला साहित्य के कल्याण के लिये नहीं, हल्ले के ही लिये है। बाजार ने घेर लिया है। भारत महासागर के इस पार जब पूछता हूँ तो जवाब मिलता है कि बाजार का नामोनिशान कहीं भले ही न हो, पर हल्ला काफी है, आधुनिक साहित्य की यही बहादुरी है।"

कवि को यह उत्तर किसने दिया है, नहीं जानता पर जिस किसी ने दिया है मैं उसकी प्रशंसा नहीं कर सकता।

नरेशचन्द्र का कहना है—"बाजार को जमाने की तनिक भी चेष्टा नहीं हो रही है ऐसी बात नहीं है। इसके अलावा बाजार जमाने के पहले हल्ला, साहित्य के इतिहास में अनेकों बार सुनाई पड़ा है। रूसो और वोल्तेयर ने लिखा है, इसलिये फ्रान्सीसी क्रान्ति का बाजार जम गया था। और आज विश्वव्यापी विचार विनिमय के युग में विलायत में जो कुछ हो रहा है उसके बारे में क्या हम तटस्थ रह सकते हैं? पश्चिम में आज जो बाजार लगा है उसमें सौदा खरीदने का मेरा अधिकार पूरब के किसी भी निवासी से कम नहीं है।"

आधुनिक साहित्य के विषय में ऐसी स्पष्ट बात इतना निर्भय होकर और किसी ने कही है कि नहीं, यह मैं नहीं जानता ।

साहित्य के नाना कामों में एक काम है राष्ट्र का निर्माण, सभी दिशाओं से उसको उन्नत करना । आईडिया पश्चिम की हैं या उत्तर की यह कोई बड़ी बात नहीं है । देश की हैं या विदेश की यह भी बड़ी बात नहीं है । बड़ी बात है यह भाषा और राष्ट्र के लिये कल्याणकर है या नहीं । विदेश से लाई हुई यह बात मुर्दाखाने के लिये जिन्दा नहीं है कि सुनते ही लज्जा से सिर नीचा हो जायेगा । अतएव, साहित्यिक की शुभबुद्धि अगर कल्याण के निमित्त इसका लाना जरूरी समझती है तो ऐसा कोई भी नहीं हैं जो उसका नियंत्रण कर सके । मतभेद कितना ही क्यों न हो, जबरदस्ती दबान की चेष्टा से मंगल से कहीं अमंगल ही अधिक होता है । लेकिन इस अत्यन्त साधारण बात को कवि को याद दिला देने में मुझे बड़ी ही लज्जा आ रही है । यह एक प्रकार से अनधिकार चर्चा की कोटि में पहुँच गई है । यह भी भलीभांति समझ रहा हूँ मगर बोलने के सिवा दूसरा रास्ता भी नहीं दिखाई पड़ रहा है ।

इस निबंध का कलेवर अब व्यर्थ ही नहीं बढ़ाऊंगा, लेकिन उपसंहार में और दो एक बातों को सीधे कवि से निवेदन करना चाहता हूँ । उनके 'साहित्य धर्म' नामक निबंध के अंत की भाषा जैसी तीक्ष्ण है श्लेष भी उतना ही निर्मम है । तिरस्कार करने का अधिकार एक मात्र उन्हीं को है । इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, लेकिन सचमुच ही, आधुनिक बंगाल भी साहित्य के रास्ते की धूलि को कीचड़ बना कर एक-दूसरे के ऊपर उछालने को ही साहित्य साधना समझ रहा है । हो सकता है कभी कहीं भूल हुई हो, मगर इसीलिये समस्त आधुनिक साहित्य के प्रति इतना बड़ा दंड क्या वाजिब है ?

कवि ने लिखा है—

उस देश का साहित्य कम से कम विज्ञाकी दोहाई न देकर उस असफलता की सफाई दे सकता है, लेकिन जिस देश के अंदर, बाहर, बद्धि-व्यवहार में विज्ञान को कहीं भी प्रवेशाधिकार नहीं मिला है ।

अगर यही सच हो तो भारत के लिये दुःख की बात है, दुर्भाग्य की बात है। शायद प्रवेशाधिकार नहीं मिला है, शायद यह वस्तु सचमुच ही भारत में थी ही नहीं। मगर कोई वस्तु नहीं थी, क्या इसी-लिये सदा वर्जित बनी रहेगी, क्या यही उनका आदेश है ?

अगली पंक्ति में कवि ने लिखा है—"उस देशके अर्थात् बंगाल के साहित्य में उधार ली हुई नकली निर्लज्जता को किसकी दुहाई देकर दबाया जायेगा ?"

दुहाई देने की जरूरत नहीं । दबाव डालना अन्याय है । मगर क्या भक्त के मुंह से उधार लिये हुए अभिमत को ही असंदिग्ध रूप से सत्य मान लेने से न्याय की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता ?

रवीन्द्रनाथ के "साहित्य-धर्म" का जवाब नरेशचन्द्र ने दिया है। शायद उनकी यह धारणा है कि औरों की तरह उनकी ओर भी कवि ने लक्ष्य किया है। इस धारणा का क्या कारण हो सकता है यह मझे मालूम नहीं। उनकी सारी पुस्तकोंको मैंने नहीं पढ़ा है। मासिक पत्रों में जो चीजें प्रकाशित हुई हैं केवल उन्हीं को देखा है। सभी जगह एक मत नहीं हो सका। कभी लगा है कि नर-नारी के प्रेम के मामले में प्रचारित निश्चित-पथ का यह अतिक्रमण कर गये हैं। पर यहां भी अपने ही मत को अभ्रांत नहीं समझा। नरेशचन्द्र से बहुतेरे लोग प्रसन्न नहीं हैं, जानता हूं। लेकिन नशे की आत्मविस्मृति में माधुर्यहीन रूखेपन की शक्ति का लक्षण समझकर पहलवानों की तरह पैतरेबाजी करने के लिये वह पुस्तक लिखते हैं, मैं ऐसी बात नहीं कहता। उनसे मेरा परिचय नहीं है। उन्हें कभी देखा है

ऐसा भी नहीं लगता है; लेकिन पांडित्य में, ज्ञान में, भाषा पर अधिकार में, चित्र-विस्तार में और सबसे ऊपर स्वतंत्र विचार को बिना झिझके प्रकट करन में, बंगला-साहित्य में उनके समतुल्य लेखक कम ही हैं। बंगला-साहित्य के, सर्वमान्य विचारक की हैसियत से कवि का कर्त्तव्य है कि वह इनकी सारी पुस्तकें पढ़ें। कहाँ शीलता का अभाव है, इन्होंने जहां काव्य-लक्ष्मी का वस्त्र हरण किया है इसे साफ साफ दिखा देना है। लकिन ऐसा भी हो सकता है कि कवि के लक्ष्य नरेशचन्द्र नहीं हैं। कोई और ही है। लेकिन उसे किसी और की सारी पुस्तकें उन्हें पढ़ देखनी चाहिये। अपने साहित्यिक जीवन की बात याद आती है। अभी उस दिन की बात है। गाली-गलौज की कोई सीमा नहीं थी। बहुत लिखा है। सबको खुश नहीं कर सका। गल्तियां भी बहुतेरी की हैं; लेकिन एक गलती नहीं की। स्वभावत: विनोद ने शांति-प्रिय आदमी होने के कारण ही या अक्षमता के कारण ही आक्रमण का उत्तर नहीं दिया है। किसी पर आक्रमण भी नहीं किया। बहुत दिन हो जाने पर ही कवि को अपनी बात भी शायद याद आयेगी। संसार में सदा से कुछ लोग ऐसे रहते हैं जो साहित्य के इसी पक्ष को पसंद करते हैं। अब बूढ़ा हो गया हूं। मरने के दिन निकट आ गये। गाली-गलौज अब कदाचित ही कर सकूंगा। 'पथ के दावेदार' लिखने के कारण उस दिन 'मानसी' पत्रिका के मार्फत एक राय साहब सब-डिप्टी ने फटकारा है। कहा गया है कि पुस्तक में कहीं सोनागाछी का मजाक था। अनुभवी व्यक्ति की नजरों से वह न बच सका। जो कुछ भी हो, हमारे दिन अब बीत चले। अब नवीन साहित्य व्रतियों का समूह साहित्य सेवा का भार ले रहा है। सर्वान्तिःकरण से उन्हें आशीर्वाद देता हूं। और जो थोड़े दिन जिन्दा हूं इसी काम को ही अपने लिये रखूंगा।

लेकिन कुछ दिनों से देख रहा हूं कि इनके विरुद्ध एक प्रचंड

आक्रमण शुरू हुआ है, इनके लिए क्षमा नहीं है, धीरज नहीं है, मित्र-भाव से त्रुटियों को सुधारने की कामना नहीं है। केवल कटूक्ति के सुतीव्र वाक्यबाण से इन्हें जर्जरित करने का संकल्प है। केवल देश और दस के सामने इन्हें नीच सिद्ध करने की निर्दय कामना है। मति की भिन्नता के कारण वाणी मंदिर के सेवकों में इस आत्मघाती झगड़े में न तो गौरव है न कल्याण ही। भाग्य का दोष है कि वह मुझ से नाराज हैं। मेरी बातों पर शायद वह विश्वास नहीं करेंगे, मगर उनसे सत्य ही निवेदन कर रहा हूं कि बंगला-साहित्य-सेवियों में ऐसा कोई भी नहीं है जिसने मन ही मन उन्हें गुरू के आसन पर प्रतिष्ठित न किया हो। आधुनिक साहित्य से अमंगल की आशंका से जो उनके कानों में गुरुदेव कह कर निरंतर विलाप कर रहे हैं उनमें से किसी से भी रवीन्द्रनाथ के प्रति ये श्रद्धा में कम नहीं है।

[बंगवाणी १३३४ आश्विन अंक से]

अभिभाषण

मित्रों का समादर, स्नेहास्पद कनिष्ठों की प्रीति और पजनीय जनों का आशिर्वाद मैं सविनय स्वीकार करता हूं। कृतज्ञता प्रकट करन की भाषा का मिलना कठिन है। अपने लिये केवल इसी बात की प्रार्थना करता हूं कि आपलोगों से जो मर्यादा मिली, उससे बढ़ कर जीवन में और किसी बात की कामना नहीं करता हूं। जो मान-पत्र अभी अभी पढ़ा गया है, वह आकार में जितना छोटा है आन्तरिक सहृदयता में उतना ही बड़ा है। यह उसका प्रत्युत्तर नहीं है। यह केवल मेरे मन की बात है। इसीलिये अपने वक्तव्य को मैं बहुत थोड़े में लिख लाया हूं।

यह आयोजन मेरी जन्मतिथि के उपलक्ष में आनंद प्रकट करने का अनुराग है। मैं जानता हूं यह मेरे व्यक्ति के लिये नहीं है। मैं गरीब के घर में पैदा हुआ। अभी उस दिन तक दूर परदेश में सरकारी काम के द्वारा जीविका अर्जन करने में मैं लगा हुआ था। तब परिचय देने के लिये मेरे पास कोई पूंजी नहीं थी। इसीलिये समझने में देर नहीं लगेगी कि यह श्रद्धा-निवेदन किसी के धन को, विद्या को, उत्तराधिकार में पाये हुए किसी अतीत गौरव के लिये नहीं है। यह केवल मुझको आधार बनाकर साहित्य-लक्ष्मी के चरणों पर मानव का श्रद्धा-निवेदन है।

इन सारी बातों को जानता हूं फिर भी जो संशय मेरे मन में बारम्बार उठा है, वह यह है कि साहित्य के पक्ष में क्या इस मर्यादा की योग्यता मैंने सचमुच ही अर्जित की है। मैं यह नहीं कहूंगा कि कुछ भी नहीं किया है। क्योंकि

इतनी बड़ी अतिविनय की अत्युक्ति से मैं अपना और आप लोगों का उपहास नहीं करना चाहता। मैंने कुछ किया है। मित्रगण कहेंगे केवल कुछ ही नहीं बहुत कुछ नहीं। तुमने किया है। लेकिन जो लोग उनके दल में नहीं है वे शायद जरा मुस्कुरा कर कहेंगे, बहुत नहीं, पर थोड़ा सा किया है। यही सच है। और हम भी इसी को मानते हैं। लेकिन फिर भी कहता हूं कि जिस थोड़े से उद्ध्र्वस्थ बुलबुले और अध:स्थ कूड़ाकरकट को छाँट देने से जो कुछ बाकी रह जाता है, काल के विचारालय में उसका मूल्य लोभ की वस्तु नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं, इस बात काम उनका प्रतिवाद नहीं करता कि उनकी बात सत्य नहीं है। लेकिन इसके लिये मेरे अन्दर दुश्चिन्ता भी नहीं है। जो कल आज भी नहीं आया है, उस अनागत भविष्य में मेरी रचनाओं का मूल्य रहेगा या नहीं रहेगा, यह मेरी चिन्ता से परे है। मेरी वर्तमान की सत्योपलब्धि अगर भविष्य की सत्योपलब्धि के संग एक नहीं हो सकती है तो रास्ता छोड़ ही देना पड़ेगा। उसकी आयु अगर समाप्त हो ही जाती है तो वह इसीलिये समाप्त होगी कि और भी विशाल, और भी सुन्दर, और भी परिपूर्ण साहित्य के सृजन कार्य में उसके कंकाल की आवश्यकता है। क्षुब्ध न होकर यही प्रार्थना करूँगा कि मेरे देश में मेरी भाषा में इतना बड़ा साहित्य जन्म ले जिसकी तुलना में मेरी रचना एक दिन अकिंचितकर समझी जा सके।

नाना परिस्थितियों के विपर्यय में एक समय नाना व्यक्तियों के संपर्क में आना पड़ा था। उससे कोई क्षति नहीं हुई है, ऐसी बात नहीं। मगर उस समय जिन्हें देखा था, उन्होंने मेरी सारी क्षति की पूर्ति कर दी है। वे मेरे मन में इस उपलब्धि को छोड़ गये हैं,

कि त्रुटि, विच्युति, अपराध, अधर्म ही मनुष्य का सब कुछ नहीं है। बीच में उनमें जो वस्तु यथार्थ में मनुष्य है, जिसे आत्मा ही कहा जा सकता है, वह उसके सभी भाषाओं सभी अपराधों से बड़ी है। अपनी साहित्य-सेवा में उसका अपमान न करूं। कारण जितना भी बड़ा क्यों न हो, मनुष्य के प्रति मनुष्य में घृणा उत्पन्न हो, मेरी रचना में कभी इस बात को बढ़ावा न मिले। लेकिन बहुतेरे लोगों ने इसे मेरा अपराध मान लिया है। और जिस अपराध के लिये मुझे सबसे अधिक लज्जित होना पड़ा है वह मेरा यही अपराध है। मेरी तूलिका से पापों का चित्र मनोरम हो उठा है, मेरे विरुद्ध उनका यही सबसे बड़ा अभियोग है।

यह अच्छा है या बुरा, मैं नहीं जानता। इससे मानव के कल्याण की अपेक्षा अकल्याण अधिक होता है या नहीं, इस पर भी विचार नहीं कर देखा है। तब जिस बात को सत्य समझा था, उसी को निष्काम निष्कपट रूप से व्यक्त किया था। यह सत्य-चिरंतन और शाश्वत है या नहीं, यह मेरे सोचने की बात नहीं। कल अगर वह झूठ भी हो जाता है, तो इस बात को लेकर मैं किसी से लड़ने नहीं जाऊँगा।'

इस प्रसंग में और एक बात सदा मेरे मन में आती है। अचानक सुनने पर चोट पहुँचती है, तथापि इस बात को सच्ची मानता हूँ कि देश का कोई भी साहित्य कभी अनन्त काल के लिए नहीं होता। विश्व की सारी सर्जित वस्तुओं की तरह उसका भी जन्म होता है, परिणाम होता है, विनाश का क्षण आता है। मनुष्य के मन को छोड़कर साहित्य के बड़े होने की जगह नहीं। मानव चित्त में ही तो उनका आधार है। वहाँ उसका सारा ऐश्वर्य विकसित हो उठता है। लेकिन मानव-चित्त एक ही जगह अडिग नहीं रह पाता है। उसमें परिवर्तन होता है, विकास होता है। उसके

रस-बोध और सौन्दर्य-विचार की धारा के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन अवश्यंभावी है। इसीलिये एक युग में मनुष्य जिस मूल्य को खुशी-खुशी देता है, दूसरे युग म उसका आधा भी देने में उसके संकोच की सीमा नहीं रहती।

याद है दासू राय का अनुप्रास-छंद में लिखित 'दुर्गास्तव'। दादा के कंठहार में उस समय न जाने कितना बड़ा रत्न था। आज नाती के हाथों में पड़कर बासी माला की भांति उसकी अवज्ञा होती है। लेकिन तने अनादर की बात उस समय किसने सोची थी।

लेकिन ऐसा क्यों होता है? किसके ेष से ऐसा हुआ? अनुप्रास का अलंकार तो आज भी उसी तरह गूँथा हुआ है। सब कुछ है मगर उसे स्वीकार करने के लिये मनुष्य का मन प्रस्तुत नहीं। उसके आनन्द-बोध का चित्र आज दूर खिसक गया है। दोष दासू राय का नहीं, उनके काव्य का भी नहीं, अगर है तो यह युग-धर्म का है।

तर्क उठ सकता है कि केवल दासूराय का दृष्टान्त देने से काम नहीं चलेगा। चंडीदास की वैष्णव पदावली तो आज भी है, कालिदास की शकुन्तला तो आज भी है, उसी तरह सजीव है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि उनकी आयु लं ी है। बहुत लंबी है। लेकनि इससे उनकी अमरता सिद्ध नहीं होती है। उनके दोष-गुणों का अंतिम फैसला भी नहीं किया जा सकता है।

समग्र मानव-जीवन में ही नहीं, व्यक्ति-विशेष के जीवन में भी यही नियम विद्यमान है। बचपन में, भवानी पाठक और हरिदास की गुप्त-कथा उनकी एक मात्र पूंजी थी। उस समय न जाने कितना रस, कितना आनन्द इन दोनों पुस्तकों से उठाया है। उसकी सीमा नहीं। लेकिन आज वे मेरे निकट नीरस हैं। मगर यह उन ग्रन्थों का अपराध है या मेरे बुढ़ापे का अपराध है, यह बताना कठिन

है। लेकिन ऐसा परिहास होता है। संसार का ऐसा बद्धमूल कुसंस्कार है कि काव्य-उपन्यास के भले-बुरे के विचार का अंतिम भार बूढ़ों पर ही जा पड़ता है। लेकिन यह इतिहास क्या वैज्ञानिक है? यह क्या केवल शिल्प है कि आयु की दीर्घता ही को उस पर फसला करने का सबसे बड़ा दावा मिल जायेगा?

बुढ़ापे में जब अपना जीवन, हरण हो जाता है, कामना जब सूख-सी जाती है, क्लान्ति, अवसाद से जीर्ण देह जब भाराक्रान्त हो जाती है, अपना जीवन जब रसहीन हो जाता है तो उम्र के विचार से जवानी क्या बार-बार इसी दरवाजे को खटखटायेगी?

लड़के जब कहानी लिखकर मेरे पास आ पहुँचते हैं, तो वे समझते हैं कि इस ूढ़े आदमी को ही राय देने का सबसे अधिक अधिकार है। वे नहीं जानते हैं कि अपनी जवानी की रचनाओं का भी मैं आज सबसे बड़ा विचारक नहीं हूँ।

उनसे कहता हूँ कि जाकर अपने समवयस्कों को दिखाओ। अगर आनन्द मिलता है, अच्छा लगता है तो उसी को सही फैसला समझना, इस बात पर वे विश्वास नहीं करते हैं। सोचते हैं कि जिम्मेदारी से बचने के लिये ही ऐसा कहता हूँ। तब लम्बी साँस लेकर सोचता हूं कि युगों के संस्कार के ऊपर उठना क्या इतना आसान नहीं है। जानता हूं फिर भी कहूंगा कि इसके रस के विचार का यही सच्चा विचार है।

जैसे विचार की दृष्टि से, वैसे ही सृजन की दृष्टि से भी एक ही तरीका है। सृजन का काल ही यौवन-काल है। चाहे वह प्रजा-सृष्टि का पक्ष हो या साहित्य-सृष्टि का। इस उम्र को पार कर ज़ाने पर मनुष्य की दृष्टि शायद प्रखर होती है, मगर निकट की दृष्टि उसी तरह धुँधली हो जाती है।

प्रवीणता की पकी हुई बुद्धि से तब नीति-निपुण, कल्याणकर

पुस्तकें लिखी जा सकती हैं; पर आत्म-विभोर-यौवन के झरने से जो रस झरता है, उसका उद्गम रुद्ध हो जाता है। आज तिरपनवें वर्ष में पदार्पण करके आपलोगों की सेवा में इसी बात को सविनय निवेदन करना चाहता हूँ। इसके बाद रसके परिवेशन में अगर आप की नजरों में त्रुटि दिखाई पड़े तो निश्चित रूप से समझ लें कि अपराध मेरे तिरपनवें वर्ष का है।

आज मैं वृद्ध हूं। मगर जब वृद्ध नहीं हुआ था, तब पूजनीय-गणों का पदांक अनुसरण कर औरों के साथ भाषा-जननी के चरणों पर जो अर्घ्य प्रदान किया था, उसका कई गुना मूल्य आज आपलोगों दोनों हाथों से उड़ेल दिया है। कृतज्ञ चित्त से आपलोगों को नमस्कार करता हूं।

[भादों १३३५ में ५३ वें जन्मदिन के उपलक्ष में कलकत्ता यूनिवर्सिटी इन्सटिट्यूट में देशवासियों द्वारा दिए गए अभिनन्दन के उत्तर में।]

अभिभाषण

एक और वर्ष बीत गया। जन्म-दिन के उपलक्ष्य में उस दिन भी इसी तरह आपलोगों के बीच आ खड़ा हुआ था। उस दिन सभी ने इसी तरह का स्नेह, प्रीति और समिति की नितांत शुभ-कामना से आज ही की भाँति हृदय को परिपूर्ण कर लिया था। केवल देश के अत्यन्त दुर्दिन की बात का स्मरण कर तब आप के उत्सव के बाहरी आयोजन को संकुचित करने का अनुरोध किया था। शायद आप खिन्न हुए थे। लेकिन मेरे अनुरोध की उपेक्षा नहीं की थी, यह बात मुझे याद है। दुर्दिन आज भी नहीं टला है बल्कि, सौ गुणा बढ़ गया है और कब उसकी समाप्ति होगी यह भी नहीं सूझ रहा है। लेकिन उस दुर्दशा को ही सबसे ऊँचा स्थान देकर शोकाच्छन्न स्तब्धता में जीवन के दूसरे आह्वानों को अनिश्चित काल के लिए अवहेलना करने को अब जी नहीं चाहता। श्रद्धान्वित चित्त से आ उपस्थित हुआ हूँ।

सुना है समिति की प्रार्थना पर कवि-गुरू ने छोटा-सा संदेश भेजा है 'लिबर्टी' में उसका एक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसके अंत में मेरी अकिंचितकर साहित्य-सेवा का अप्रत्याशित पुरस्कार है। यह मेरी सम्पदा है। उन्हें नमस्कार करता हूं और समिति के निकट से इसे पाने के कारण आपलोगों का मैं कृतज्ञ हूँ।

इस रचना में रवीन्द्रनाथ ने बंगला कथा-साहित्य के क्रम-विकासका एक संक्षिप्त परिचय दिया है। यद्यपि विस्तृत विवरण नहीं है और दोष गुणों की आलोचना भी वसी नहीं है; लेकिन इसी के अन्दर सोचने की, आलोचना करने की, बंगला साहित्य के भविष्य के दिशा निर्णय की काफी सामग्री है। कवि ने बंकिमचंद्र के 'आनन्दमठ' का

उल्लेख करते हुए कहा है कि 'विषवृक्ष' और 'कृष्णकांत का वसीयत नामा' की तुलना में इसका मूल्य स्वदेश की हितेच्छा, मातृभूमि के दुःख-दुर्दशा के विवरण, उसके प्रतिकार के उपाय के प्रचार में, उसके प्रति प्रीति और भक्ति के आकर्षण में है। अर्थात् 'आनन्दमठ' में साहित्यिक बंकिमचन्द्र ने सिंहासन पर अधिकार कर रखा है, प्रचारक और शिक्षक के रूप में। बंकिमचंद्र के उपन्यासों के सम्बन्ध में ऐसी बात शायद इसके पहिले और किसी ने कहने का साहस नहीं किया था। और शायद इस बात को निःसंदेह कहा जा सकता है कि कथा-साहित्य के मामले में यही रवीन्द्रनाथ का सुस्पष्ट और सुनिश्चित मत है। नहीं जानता कि इस मत को सभी ग्रहण कर सकेंगे, या नहीं। लेकिन जो कर सकेंगे आगे के लिए उनके गन्तव्य पथ की दिशा यहीं मिल गई। और जो नहीं कर सकेंगे, उनको भी नितान्त श्रद्धा से याद रखना चाहिये कि यह कथन रवीन्द्रनाथ का है जिन की साहित्यिक प्रतिभा और सहज बुद्धि को एक प्रकार से अपरिमेय कहा जा सकता है।

कहानी, उपन्यास और कविता में देश के दुःख की कहानी, अनाचार-अत्याचार की कहानी किस प्रकार से लेखक की दूसरी रचनाओं को ढंक देती हैं मैं खुद भी इस बात को जानता हूं और बंकिमचन्द्र की की स्मृति-सभा में मैं जाकर भी इस बात का अनुमान कर आया हूं। कुछ वर्ष पहिले कांठालपाड़ा में बंकिमचन्द्र के जन्म-स्थान की साहित्य-सभा में एक बार उपस्थित हो पाया था। देखा कि उनके मृत्यु-दिवस का स्मरण कर बहुतेरे मनस्वी पंडित, साहित्य-रसिक कितने ही स्थानों से सभा में आए हैं, एक के बाद दूसरे वक्ता के मुँह से यही एक ही बात निकलती थी कि बंकिमचन्द्र 'वन्देमातरम्' मंत्र के ऋषि हैं, बंकिम मुक्ति-यज्ञ के प्रथम पुरोहित हैं। सभी की समवेत श्रद्धांजलि जा पड़ी एक 'आनन्दमठ' पर; 'देवी चौधुरानी', 'कृष्णकान्त का

वसीयतनामा' का नहीं, एक बार 'कृष्णचरित' का किसी ने उल्लेख किया सही में। पर किसी ने 'विषबृक्ष' का नाम महीं लिया, किसी ने 'कृष्ण कान्त का वसीयतनामा' का एक बार भी नाम नहीं लिया। वे दोनों में पुस्तकें मानो पूर्णचन्द्र में कलंक हैं, उनके लिये मानो सभी मन ही मन लज्जित हैं। इसके बाद हरेक साहित्य सम्मेलन का जो अनिवार्य कर्त्तव्य होता है अर्थात् आधुनिक साहित्य-सेवियों को एक ओर से और बुलन्द आवाज में धिक्कार देकर साहित्य-गरू बंकिम की स्मृति-सभा का पुण्य-कार्य उस दिन के लिए समाप्त हुआ। ऐसा ही होता है।

लेकिन रवीन्द्रनाथने एक बात नहीं कही। बंकिम जैसी तनी बड़ी साहित्यिक प्रतिभा, जिसने उन दिनों भी बंगला भाषा के नए रूप, नए कलेवर का निर्माण किया था, विषवृक्ष और कृष्णकान्तका वसीयतनामा जैसी बंगला साहित्य की दो अमूल्य सम्पदा बंगालियों को प्रदान की थी, वही परिणत वयस में कथा-साहित की मर्यादा का उल्लंघन कर, क्यों फिर आनन्दमठ, देवी चौधुरानी, सीताराम लिखने गये ? उन्हें कौन-सी आवश्यकता हुई थी ? क्योंकि इस बात को तो निःसंदेह कहा जा सकता है कि यह उनके लिए कठिन नहीं था। आशा है रवीन्द्रनाथ किसी दिन इस समस्या का समाधान कर देंगे। आज उनकी सभी बातें नहीं समझ सका। लेकिन उस दिन शायद अपने इस संशय का समाधान भी उसी में पा सकूंगा।

कवि ने अपने बचपन की एक घटना का उल्लेख किया है, वह है उनकी दृष्टि-शक्ति की क्षीणता। इस बात को वे भी नहीं जानते थे। इस लिये जब दूर की वस्तु को साफ नहीं देख पाते थे तो उसके लिये उनके मन में कोई कमी भी नहीं महसूस होती था। इस बात को समझ सके, आंखों में चश्मा लगाने के बाद और इसके बाद चश्मा लगाने के सिवा कोई चारा नहीं था। ऐसा ही होता है, यही संसार का स्वाभा-

विक नियम है। बंगाल के शिक्षित मन को 'अब विजय वसन्त' में अपनी रसोपलब्धि के उपादान नहीं मिलते हैं, यही उसका कारण है। और लगता है कि आधुनिक साहित्य विचार के बारे में भी इस बात को याद रखना जरूरी है कि साहित्य-सृजन में और कुछ क्यों न हो श्लीलता, शोभनता, भद्र रुचि और मार्जित मन की रसोपलब्धि पर अकारण ही दांभिकता से बारम्बार आघात करते रहने से बंगला साहित्य की जितनी भी क्षति हो, उससे उनकी अपनी कहीं अधिक क्षति होगी। वह आत्म-हत्या का ही दूसरा नाम होगा।

शायद कहने के लिये बहुत कुछ है। लेकिन आज मैं साहित्य पर विचार नहीं करने जाऊँगा।

अन्त में एक निवेदन है कि श्रद्धा और स्नेह का अभिनन्दन हृदय से ग्रहण करना चाहिए, उसका जवाब नहीं देना चाहिए।

आप लोग मेरे परिपूर्ण हृदय की कृतज्ञता स्वीकार करें।

[५५ वीं वर्षगांठ के मौके पर प्रेसिडेंसी कालिज (कलकत्ता) की बंकिम–शरत्-समिति द्वारा दिए गए अभिनन्दन के उत्तर में पढ़ा गया।]

यतीन्द्र संवर्द्धना

सामताबेड़, पानित्रास

जिला हावड़ा ।

कल्याणीयेषु,

भाई कालीदास, तुम्हारी चिट्ठी मिली । मेरी एक बदनामी है कि मैं जवाब नहीं देता । यह बिल्कुल झूठी बात है, ऐसा कोई नहीं कह सकता । लेकिन जिस विषय के बारे में तुमने निमंत्रण भजा है उसका भी अगर जवाब न दूँ तो केवल असौजन्यता का ही अपराध नहीं होगा बल्कि यतीन्द्र को समादर करने में अंश नहीं ग्रहण कर सका इस दुःख की सीमा नहीं रहेगी ।

बहुतेरे नहीं जानते हैं कि मैं यतीन को सचमुच ही प्यार करता हूँ । केवल कवि के नाते ही नहीं, उनके अन्दर एक ऐसा स्नेह सरस, बन्धु-वत्सल, भद्र हृदय है कि उसके स्पर्श से अपना हृदय भी तृप्ति से भर उठता है ।

यतीन को मालूम है कि मैं उनकी कविता का एक अनुरागी हूँ । जब जहाँ कहीं भी देखता हूँ उन्हें बार बार पढ़ता हूँ । स्निग्ध, करुण निभ्रान्ति छन्द कानों में न जाने कितनी ही बातें कहते रहते हैं । बंगला के प्रसिद्ध कवि और आलोचक, किसी के बारे में अपनी राय में आसानी से नहीं देता हूं । मुझे संकोच होता है । सोचता हूं, मेरी राय की ऐसी कीमत ही क्या है । लेकिन अगर कभी राय देनी ही पड़ती है तो सच्ची ही बात कहता हूं । यतीन को

स्नेह करता हूं पर स्नेह की अतिशयोक्ति से उसे भी सचाई के सिवा और किसी चीज से खुश नहीं कर सकता था। छोड़िए इस बातको।

तुम्हारा अनुष्ठान छोटा-सा है, छोटा तो होगा ही। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसकी कीमत भी कम है। यह तो ढिढोरा पीट कर बहुत से लोगों को इकट्ठा करके 'जय यतीन बागची की जय' बोलने की बात नहीं है। यह तुम्हारे छोटे रस-चक्र का प्रीति-सम्मेलन है। अर्थात् किसी खास दिन और किसी खास स्थान पर कुछ थोड़े से साहित्य-रसिक और साहित्य-सेवियों का एकत्रित होकर एक और सच्चे साहित्यसेवक का सादर आह्वान करके कहना, "कवि, हमें तुम्हारी साहित्य-साधना से आनंद मिला है। तुम्हारी वाणी-पूजा सार्थक हुई है, तुम सुखी हो, तुम दीर्घायु हो, हम तुम्हें अन्तःकरण से धन्यवाद देते हैं, तुम हमारा अभिनन्दन स्वीकार करो।" यही नं० १ आयोजन है छोटा होने के कारण तुम लोग खिन्न न होना।

लेकिन फिर भी सम्मेलन में किंचित त्रुटि हुई, मैं नहीं जा सका। शायद कारण यह है कि मैं तुम सभी से उम्र में बड़ा हूँ।

इस इलाके में बीमारी-ईमारी फैली है। न जाने कहां से अभागा डेंगू बुखार फट पड़ा है। सबेरे से ही दो छोटे लड़के लड़कियों की आंखें छलछला आई हैं। नौकरों में दो के सिवा, सभी ने बिस्तर पकड़ लिया है। मेरी नाक का एक छेद बंद है, दूसरे ने ट्यूबवेल की लीला शुरू कर दी है। रात होने तक शायद देह, मन, प्राण इस उत्सव में सम्मिलित हो जायेंगे, इसका आभास इशारे से मिल रहा है। नहीं तो, इस अनुष्ठान में अपने नाम के सामने, तुम्हें, गैरहाजिरी का निशान नहीं लगाने देता।

बहुतेरे उपस्थित हो, इसी मौके से फायदा उठाकर यह दुःख

भरी शिकायत पेश करूं। कालीदास, तुम भी तो अब प्रायः बालिग हो चले। पहिले की सारी बातें तुम्हें याद न आने पर भी कुछ कुछ तो याद होंगी ही। आजकल की तरह उन दिनों हम पर छिद्रान्वेषण नहीं करते फिरते थे। हो सकता है कि एकाध अपवाद हुआ हो। लेकिन आज से उसकी तुलना ही नहीं हो सकती है। साहित्य सेवियों के बीच भावों का आदान प्रदान, एक को दूसरे का देना और उससे पाना, सदा से चला आ रहा है और चलता रहेगा। लेकिन तरुणों के दल में आजकल यह क्या हो रहा है ? निंदा करने का यह कैसा उद्दाम उत्साह, ग्लानि के प्रचार का यह कैसा निष्ठुर अध्यवसाय है। निरन्तर एक दूसरे को चोर सिद्ध करना चाहते हैं। अखबारों में जितना ही पढ़ता है मन लज्जा और दुःख से उतना ही भर उ ता है। क्षमा नहीं हूँ, धैर्य नहीं है, समवेदना का बोध नहीं है, आक्रमण प्रत्याक्रमण की निष्ठुरता मानो खत्म हो नहीं होना चाहती । कहां किससे कितना मिल रहा है, किसकी रचना से किसने कितनी नकल की है, रूखे कड़वे स्वर में इस बात का संसार में प्रचार करने में इन्हें क्या मिलता है, यह मेरी समझ मे नहीं आता । चर और बाहर इसी का प्रचार करना चाहते हैं कि बंगाल के साहित्यिकों के पास विदेशियों से चुराने के सिवा कोई दूसरा सम्बल नहीं है।

यतीन से पूछने से तुम्ह पता चलैगा कि बहुत परिश्रम करके ढूंढ़ ढांढ कर जासूसी करना भी हमारे साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित नहीं हुआ था। जो भी हो, कामना करता हूं कि तुम्हारे रस-चक्र के रसिकों में इस बीमारी को घुसने का कोई रास्ता न मिले।

कवि नहीं हूँ, मन में बातों के जमा हो जाने पर भी तुम्हारी तरह व्यक्त करने की भाषा नहीं ढूंढ़ पाता हूं, तरतीब से नहीं कह पाता। इसलिये सदा से मेरी चिट्ठी बेतरतीब हो जाती है।

भले ही बेतरतीब हो, फिर भी इसी तरह कहूंगा, तुम्हारे रस चक्र की जय हो; तुम्हारा आज का आयोजन सफल हो। और यतीन से कहना कि शरत् दादा ने इस चिट्ठी के जरिये स्नेहाशीर्वाद भेजा है।

[इति ५ भाद्रपद, १३३८] शरत् दादा

शेष प्रश्न

कल्याणीयासु,

हां, 'शे प्रश्न' को लेकर उ नेवाले आन्दोलन की लहर मेरे कानों तक आ पहुँची है। कम से कम अत्यन्त तीव्र और कटु है, उन्हें कहीं मेरी आँखें न देख पायें और कान सुनने से वंचित रह जायं, मेरे अत्यन्त शुभेच्छु इस विषय की कड़ी निगाह रखते हैं। लेखों को बड़ी सावधानी से जमा करके, लाल, नीले, हरी, बैंगनी पेंसिल से निशान लगाकर अपना डाक महसूल खर्च करके बड़ी सावधानी से मेरे पास भेज दिये ह। उनका आग्रह, क्रोध और समवेदना हृदय को छूती है।

तुमने खुद अखबार नहीं भेजा है सही में, पर इसका मतलब यह नहीं कि कुछ कम गस्सा हुए हो। आलोचक के चरित्र, रुचि, यहां तक कि पारिवारिक जीवन के प्रति भी कटाक्ष किया है। एक बार भी सोच नहीं देखा कि कठोर बातें कहना ही संसार म सबसे कठिन काम नहीं है। मनुष्य का अपमान करने से अपनी मर्यादा को ही सबसे अधिक धक्का लगता है। जीवन में जो इस बात को भूल जाते हैं वे एक बहुत बड़ी बात को भूल जाते हैं। इसके अलावा यह भी तो हो सकता है कि 'पथ के दावेदार' और 'शे प्रश्न' उन्हें (आलोचक को) सचमुच ही बुरे लगे हैं। संसार में सभी पुस्तकें सभी के लिए नहीं होती, सभी को अच्छी लगेंगी और वे इसकी प्रशंसा करेंगे' ऐसा कोई धा हुआ नियम नहीं है। लेकिन इस बात को व्यक्त करने की भंगिमा अच्छी नहीं बन पड़ी है, यह मैं मानता हूं। भाषा अकारण ही रूखी और हिंस्र हो गई है। लेकिन रचना-पद्धति की यहाँ तो सबसे बड़ी साधना है। मन में क्षोभ

और उत्तेजना पैदा करनेवाले यथेष्ट कारणों के होते हुए भी भद्र व्यक्ति को असंयत भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये, इसी बात को बहुत दिनों के कितने ही दुःखों से आयत्त करना पड़ता है। अपनी चिट्ठी में यह गलती तुमने उस आलोचक से भी अधिक की है। इससे बढ़कर आत्म-अवमानना दूसरी नहीं।

भावों से लगता है तुमने थोड़े ही दिन पहिले कालेज छोड़ा है। लिखा है तुम्हारी सखियों की राय यही है। अगर ऐसा है तो यह दुख की बात है। यह रचना अगर तुम्हें मिलती है तो उन्हें दिखाना। शीलता नारियों के लिये बहुत बड़ा भूषण है। इस सम्पदा को तुम्हें किसी भी व्यक्ति के लिये, किसी भी वस्तु के लिए तुम्हें खो नहीं देनी चाहिये।

जानना चाहा है कि मैं इन सब का जवाब क्यों नहीं देता? इसका जवाब यह है कि मुझ इच्छा नहीं होती, क्यों कि यह मेरा काम नहीं है। आत्म-रक्षा के लिये भी मनुष्य का असम्मान करना मुझे नहीं रुचता। देखो न, लोग कहते हैं कि मैं पतिताओं का समर्थन करता हूँ। समर्थन मैं नहीं करता, केवल उनका अपमान करने को जी नहीं चाहता। कहता हूँ वे भी आदमी हैं, उन्हें अभियोग करन का अधिकार है, और महाकाल के दरबार में इनके फसल की माँग किसी दिन के लिये रख छोड़ता हूँ। लेकिन संस्कार के अंधेपन के कारग लोग इस बात को किसी भी तरह मानने के लिए तैयार नहीं।

लेकिन ये बिलकुल व्यक्तिगत बातें हैं। अब आगे नहीं। लेकिन सके सम्बन्ध में और एक बात कहना शायद अच्छा है। तुमलोग तब शायद छोटी रही होगी। अब लुप्त एक मासिक पत्रिका में तब रवीन्द्रनाथ पर और उनका भक्त शिष्य होने के नाते मुझ पर भी हर महीने आक्रमण चल रहा था। गाली-गलौज व्यंग, विद्रूप की सीमा

नहीं थी, उसकी भाषा जैसी निष्ठुर थी, अध्यवसाय भी उतना ही अदम्य था। चारा ही क्या है! जिस अस्त्र को लेकर वे लड़ते हैं मैं तो उसे छू भी नहीं सकता हूं।. एक दूसरे मौके पर एक बात के जवाब में कहा था जिसकी प्रशंसा नहीं कर सकता, उसकी निंदा करने म भी मुझे लज्जा आती है।

उनसे बहुत कुछ सीखा है। लेकिन सबसे बड़ी इन दो बातों को नहीं भला हूं। आज जीवन के पचपन सालों को पार करके सकृतज्ञ चित्त से स्मरण करता हूं, कि मने धोखा नहीं खाया, बल्कि अपने अनजाने ही, लाभ बहुत हुआ है। मनुष्य की श्रद्धा पाई, प्यार पाया। वस्तुतः, यही तो संस्कृति है, नहीं तो क्या इसका कोई दूसरा अर्थ होता है? भाषा पर मेरा जितना अधिकार है, शायद कुछ है भी, उसे क्या अन्त में, इस दुर्गति में खींच लाऊं?

अब तुम्हारे साहित्य सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दूं। तुमने संकोच के साथ प्रश्न किया है कि बहुतेरे कहते हैं कि आपने 'शेष प्रश्न' में एक विशेष मत के प्रचार की चेष्टा की है, क्या यह बात सच है?

बात सच है कि नहीं, यह मैं नहीं कहूंगा। लेकिन 'प्रचार किया छि छि' कह कर हल्ला कर देने से जो लज्जा से सिर नीचा कर लेते, हैं और ना ना कह कर बुलन्द आवाज में प्रतिवाद करते रहते हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। लेकिन अगर उल्टा मैं ही पूछ बैठूं कि इसमें इतना बड़ा कौन सा अपराध किया है तो मुझे यकीन है कि मुद्दई मुद्दालेह कोई भी इसका स्पष्ट जवाब नहीं दे सकेगा। तब एक पक्ष नासमझ की तरह गर्दन टेढ़ी करके निरंतर कहता जायगा ऐसा नहीं हो सकता। उससे कला, कला के लिए वाली बात जहन्नुम में चली जाती है। और दूसरे पक्ष की हालत हमारी ही जैसी होगी। मेरे एक दूरके रिश्ते की बहन के चार वर्ष के एक लड़के का नाम हरि है शैतानी का साक्षात् अवतार है। मार-पीट, गाली-गलौज, एक पैर

पर खड़ किए जाना, किसी भी तरह से उसकी मां उसे दुरुस्त नहीं कर पाती है। घर-भर के लोगों ने जब एक तरह से हार मान ली तो तरकीब किसने निकाली, यह तो नहीं बता सकता पर हरि बाबू दुरुस्त हो गए। केवल यही कहना पड़ता था कि अब मुहल्ले के पांच आदमियों को बुलाकर उसका अपमान करो। अपमान के बारे में उसकी क्या धारणा थी, वही जानता है। लेकिन दूर से वह कांप उठता था। इनके बारे में मैं भी देखता हूँ, बात यही है। बस, एकबार कहने भर की देर है कि प्रचार किया है। कला कला के लिए नहीं बन पाई है। लेकिन क्या प्रचार किया है, कहां किया है, उसमें कौन-सा दोष है, कौन-सा महाभारत अशुद्ध हो गया? ये सारे प्रश्न अवैध हैं। तब कोई गाली देने लगा, कोई हाथ जोड़ कर भगवान की आराधना करने लगा। 'रूपकार यदि सुधारक बन जाते ह तो हे भगवान आदि आदि।' वे शायद समझते हैं कि अनुप्रास ही तर्क है और गाली-गलौज ही आलोचना है। उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि संसार का जो चिरस्मरणीय कार्य और साहित्य है उसमें भी किसी न किसी रूप में यह चीज है। रामायण में है, महाभारत में है, कालिदास के काव्य में है, आनंदमठ, देवी चौधुरानी मे है। इबसेन, मेटरलिंक, तोल्सेसतोय में है, हमसुन-गोवर्‌-आलेय मे है। लेकिन इससे क्या हुआ? पश्चिम से सारा चालान आया है कि कला कला के लिए है, ये सारी बातें उन्हें कंठस्थ हैं। कहानी का कहानीपन ही धूल में मिल गया, क्योंकि चितरंजन नहीं हुआ। किसका चितरंजन! मेरा! गांव का चौधरी कौन है? मैं और मेरे मामा!

तुमने चित्त रंजन शब्द पर बहुत लिखा है पर इस पर एक बार भी गौर नहीं किया कि यह दो शब्दों को लेकर बना है। केवल रंजन नही चित्त नामक भी एक वस्तु है। वह बदलती रहती है। चीतपुर* के दफ्तरी

* कलकत्ते का एक महल्ला जहां अल्प शिक्षितों के लिए अधिक साहित्य प्रकाशित होता है।

खाने में गुलबकावली का स्थान है। उस इलाके में वह चित्तरंजन करने का दावा रखती है। लेकिन उस दावे के बल पर बरनार्डशाको गाली देने का अधिकार उसे नहीं प्राप्त हो जाता। मानता हूं कि तोता-रटंत बातें करने का मोह होता है। व्यवहार में आनन्द है, देखने में भी पंडित सा लगता है, लेकिन उपलब्धि करने के लिए दुःख स्वीकार करना होता है। अमुक अमुक के लिए कह देने से ही सभी बातों के तत्वों का निरूपण नहीं हो जाता।

नाना कारणों से 'पथ के दावेदार' रवीन्द्रनाथ को अच्छा नहीं लगा। इस बात को सूचित करते हुए भी चिट्ठी के अंत में लिखा था, इस पुस्तक को निबन्ध के रूप में लिखने से इसकी कीमत बहुत मामूली होती लेकिन कहानी के रूप में जो कुछ कहा है देश और काल में इसकी व्याप्ति विराम सीमा नहीं रहेगी।

उपसंहार करते हुये तुम्हें एक बात कहूं। समाज को सुधारने की कोई दुरभिसंधि मुझ में नहीं है। इसीलिए मेरी पुस्तकों में मनुष्यों के दुःख वेदना का विवरण है, शायद समस्या भी है पर समाधान नहीं है। यह काम दूसरे का है, मैं केवल गल्प लेखक हूं। इसके सिवा और कुछ भी नहीं।

एक विनती है। तुम अपरिचिता हो, उम्र में शायद बहुत छोटी हो। मैंने सरल मन से तम्हारे नाना प्रश्नों में दो एक का यथाशक्ति जवाब देने की चेष्टा की है। फिर भी इच्छा होते हुए भी दो एक स्थानों में कोई कठिन बात लिखी हो तो गुस्सा न होना।

सुमन्द भवन की श्रीमती सेन को लिखित पत्र। बिजली वर्ष ६ अंक १३ से लिया गया।

रवीन्द्रनाथ

कवि के जीवन के सत्तर साल पूरे हो गए। विधाता के इस आशीर्वाद ने केवल हमें ही नहीं, समग्र मानव जाति को धन्य किया है। सौभाग्य को इस स्मृति के आनन्दोत्सव से मधुर और उज्ज्वल करके हम उत्तर काल के लिए रख जाना चाहते हैं। और उसके साथ ही अपना यह परिचय भी उन्हें दे जायंगे कि कवि को केवल काव्य में ही नहीं, उन्हे हमने आंखों से देखा है।

उनकी बातें कानों से सुना है, उनके आसन के चारों ओर घेर कर बैठने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। लगता है कि उस दिन हमारे लिए भी वे नमस्कार करेंगे।

उस अनुष्ठान का एक अंग आज की यह साहित्य-सभा है। साहित्य सम्मेलन और भी कितने होंगे, आयोजन प्रयोजन में उनका गौरव भीं कुछ कम नहीं होगा। लकिन आज की असामान्यता उन्हें नहीं मिलेगी। यह तो साधारण दिनों की नहीं है, यह एक विशेष दिन की है, इसीलिए इसकी श्रेणी बिल्कुल अलग ही है।

साहित्य के जलसे में सभानायक का काम करने का बुलावा इस के पहिले भी कितनी ही बार आया है। आह्वान की उपेक्षा नहीं कर सका। अपनी अयोग्यता को स्मरण करते हुए भी संकोच के साथ कर्त्तव्य पूरा कर आया हूं। लेकिन इस सभा में केवल संकोच ही नहीं, आज लज्जा भी आ रही है। मुझे संदेह नहीं कि यह गौरव मेरा प्राप्य नहीं है। इस भार को वहन करने में मैं अक्षम हूं। यह मेरी प्रचलित विनय वाणी नहीं है, मेरा यह अकपट सच्चा कथन है।

फिर भी आमंत्रण अस्वीकार नहीं किया। क्यों नहीं किया मैं केवल उतना ही कहूंगा।

मैं जानता हूँ कि यह बहस की जगह नहीं है। साहित्य के भले बुरे का विचार इसकी जाति और कुल के निर्णय की समस्या को लेकर यह परिषद् नहीं बुलाई गई है। यथास्थान उसका प्रयोजन है। हम समवेत हुए हैं, वृद्ध कवि के प्रति श्रद्धा का अर्घ निवेदन करने के लिए। उन्हें सहज भाव से कहन के लिए, कवि, तुमने बहुत कुछ दिया है, इस लम्बे अरसे में तुमसे हमने बहुत कुछ पाया है, तुमने सुन्दर सबल, सर्वसिद्धिदायिनी भाषा दी है, तुमने विचित्र छन्दोबद्ध काव्य दिया है, अनुरूप साहित्य दिया है, जगत के सम्मुख बँगला भाषा और भावसम्पदा का श्रेष्ठ परिचय दिया है और वह वस्तु दी है जो सबसे बड़ी है। तुमने हमारे मन को बड़ा कर दिया है। तुम्हारे सृजन के गुण अवगुण का विचार मेरी शक्ति से परे है, यह मेरे धर्म के विरुद्ध है। प्रज्ञावान यथा समय इसकी आलोचना करेंगे। लेकिन तुमसे मैंने स्वयं क्या पाया है, उसी को संक्षेप में कहने के लिए इस निमंत्रण को स्वीकार किया था।

भाषा का कारु कार्य-मुझमें नहीं है। उसके लिए जितनी विधि और शिक्षा की आवश्यकता होती है, वह मुझे नहीं मिली। इसीलिए मन के भावों को प्रचलित सरल शब्दों में व्यक्त करने की मुझे आदत पड़ गई है और इसी तरह से ही कहना चाहता था पर बुरे ग्रहों ने आकर विघ्न उत्पन्न कर दिया।

एक तो मैं बदनाम आलसी आदमी हूँ, इससे वायु, कफ, पित्त, आयुर्वेदोक्त चारोंके दल ने एक ही साथ कुपित होकर मुझे शय्याशायी बना दिया। ऐसी आशा नहीं थी कि हिल-डुल सकूंगा। लेकिन एक मुसीबत यह है कि मेरी बीमारी की बातपर कोई विश्वास नहीं करता है, मानों बीमार मुझे होना ही नहीं चाहिए। कल्पना से स्पष्ट है कि सभी गर्दन हिला, मुस्करा कर कह रहे हैं कि वह तो नहीं आएँगे ? इस बात को हम जानते थे। उन्हीं वाक्य-वाणों के डर से ही मैं किसी प्रकार आ उपस्थित हुआ हूँ। अब देखता हूँ

कि अच्छा ही किया है। इस न आसकने का मेरा दुःख आमरण समाप्त न होता। लेकिन जो कुछ लिखकर कहना चाहता था, वह नहीं हो सका। एक कारण का उल्लेख पहिले ही किया है। लेकिन उससे बड़ा कारण भी है। मनुष्य को पाने की थोड़ी बहुत बातें याद रहती हैं। इसीलिए लिखने बैठ देखा कि कवि से पाने का हिसाब लगाना व्यर्थ है। दफावार पुर्जा नहीं मिलता है।

बचपन की बात याद है। देहात में मछली पकड़ने, डोंगी खेने और नाव चलाने में दिन बीत जाते थे। वैचित्र्य के लोभ से बीच-बीच में यात्रा (ग्राम्य-अभिनय—अनुवादक) रूप में शागिर्दी करता था। उसका अनंत आनंद और आराम जब सम्पूर्ण हो जाता था तो कांधेपर अंगोंछा रख कर बिना किसी लक्ष्य के सैर को निकल पड़ता। विश्व-कवि के लक्ष्यहीन काव्य की तरह नहीं, उससे कुछ भिन्न उसके समाप्त होने पर फिर किसी दिन नंगे पैर, निर्जीव देह लेकर घर लौट आता। आदर अभ्यर्थना की बारी खत्म होने पर अभि-भावक फिर विद्यालय के लिए चालान कर देते थे। वहाँ फिर संवर्धना प्राप्त कर बोधोदय-पद्यपाठ की पढ़ाई में जुट जाता था, फिर किसी दिन प्रतिज्ञा भूल जाता, फिर दुष्टा सरस्वती कंधोंपर सवार हो जातीं, शागिर्दी शुरू कर देता, बिना लक्ष्य के सैर को निकल पड़ता। फिर वापस आनेपर उसी तरह का आदर आप्यायन संवर्धना का आयोजन होता। इसी प्रकार से बोधोदय-पद्यपाठ और बालक के जीवन का एक अध्याय समाप्त हुआ। शहर में आया। केवल बोधोदय का प्रमाण देखकर गुरुजनों ने वजीफा के दर्जे में दाखिल करा दिया। उसमें पाठ्यक्रम था, सीतार बनवास, चारुपाठ, सद्भाव शतक और काफी मोटा व्याकरण। इन्हें केवल पढ़ना ही नही था, मासिक साप्ताहिक में आलोचना लिखना नहीं था, यह था प्रतिदिन पंडित के सामने खड़े होकर परीक्षा देना। अतएव, संकोच के साथ कहा जा

सकता है कि साहित्य से मेरा प्रथम परिचय अश्रुजल के माध्यम से शुरु हुआ। इसके बाद बहुतेरे दुःखों के अन्दर से इसकी मियाद भी परी हुई। तब धारणा भी नहीं थी कि मनुष्य को दुःख देने के सिवा साहित्य का कोई दूसरा उद्देश्य भी होता है।

जिस परिवार में आदमी हुआ वहां काव्य, उपन्यास, दुर्नीति के दूसरे नाम समझे जाते थे, संगीत अस्पृश्य था। वहां सभी परीक्षा पास करना और वकील बनना चाहते थे। इसी के अन्दर हमारे दिन बीत रहे थे। लेकिन अचानक एक दिन इसमें भी विपर्यय उपस्थित हुआ। मेरे एक सम्बन्धी तब विदेश म रहते थे। वह घर आये। उन्हें संगीत से अनुराग था और काव्य के प्रति आसक्ति। घरकी औरतों को जमा कर उन्होंने एक दिन रवीन्द्रनाथ का 'प्रकृति का प्रतिशोध' पढ़ सुनाया। किसने कितना समझा यह तो नहीं कह सकता, लेकिन जिन्होंने पढ़ा था उनके साथ ही मेरी आंखें भी छल-छला आई। लेकिन कहीं दुर्बलता प्रकट हो जाय, इसी लज्जा से जल्द ही बाहर चला आया। यह मेरा काव्य से दूसरी बार परिचय हुआ और भली भांति याद है इस बार पहले पहल उसका सच्चा परिचय पाया। इसके इस घराने के वकील बनने के कठोर नियम-संयम मेरे बरदाश्त के बाहर की वस्तु बन गई। फिर उसी पुराने देहात के घर में लौटना पड़ा। लेकिन इस बार बोधोदय नहीं, पिता के टूटे दराज से 'हरिदास की गुप्तकथा' ढूंढ निकाली; और निकाला 'भवानी पाठक'। गुरुजनों को तो दोष नहीं दे सकता। वे स्कूल की पाठ्य पुस्तकें नहीं थीं। बदमाश लड़कों के लिए भी अपाठ्य समझी जाती थीं। इसीलिए पढ़ने के लिए मवेशियों के बांधने की जगह, जगह बनानी पड़ी। वहां मैं पढ़ता था, वे सुनते थे। अब पढ़ता नहीं, लिखता हूँ। उन्हें कौन पढ़ते हैं, नहीं जानता। एक ही स्कूल में अधिक दिनों तक पढ़ने से विद्या नहीं आती है, मास्टर साहब ने स्नेहवश यह इशारा किया।

अतएव, फिर शहर लौटना पड़ा। कह देना अच्छा है कि इसके बाद फिर स्कूल बदलने की जरूरत नहीं पड़ी। अब बंकिम ग्रंथावली का पता चला। उपन्यास साहित्य में इसके बाद भी कुछ है, इस बात को तब सोच भी नहीं पाता था। पढ़ते पढ़ते पुस्तकें मानो कण्ठस्थ हो गयीं। शायद यह मेरा एक दोष है। अन्ध अनुकरण की चेष्टा नहीं की है, ऐसा नहीं कि रचना की दृष्टि से वे सोलहो आने व्यर्थ हुई है। लेकिन चेष्टा की दृष्टि से उनके संचय मनमें आज भी अनुभव करता हूँ।

इसके बाद 'वंग-दर्शन'* के नवअध्याय का युग आया। रवीन्द्रनाथ की 'आंख की किरकिरी' तब धारावाहिक निकल रही थी। भाषा और अभिव्यंजना की एक नई रोशनी आखों के सामने दिखलाई पड़ी। उन दिनों के गहरे और तीक्ष्ण आनन्द की स्मृति को भी नहीं भूल सकूँगा। किसी चीज को इस तरह से कहा जा सकता है, दूसरे की कल्पना की छबि में अपने मन को जो पाठक इस तरह आंखों से देखना चाहता है, इस बात को इससे पहिले कभी सपने में भी नहीं सोचा था। बहुत पढ़ने पर ही तब कहीं अपने को पाया जा सकता है, यह बात सच नहीं है। वही तो इने-गिने पन्ने थे। उन्हीं के बीच से जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पदा उस समय हमारे हाथों तक पहुंचा दी थी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की भाषा कहाँ मिलेगी ?

इसके बाद ही साहित्य से मेरा विच्छेद हुआ। भूल ही गया कि जीवन में कभी एक भी पंक्ति लिखी है। लम्बा समय प्रवास में बीत गया। इसी बीच कवि को केन्द्र बनाकर किस प्रकार से नवीन बँगला-साहित्य बड़ी तेजी से समृद्ध हो उठा; मैं भी उसके बारे में कुछ नहीं जानता था। कवि से कभी घनिष्ठता होने का सौभाग्य नहीं हुआ। उनके पास बैठकर साहित्य का पाठ पढ़ने का सुअवसर नहीं मिला।

* बंकिमचन्द्र द्वारा सम्पादित एक पत्रिका जिसे रवीन्द्रनाथ ने नए सिरे से निकाला था।—अनुवादक

में बिलकुल विच्छिन्न था। यह हुआ बाहरी सत्य। लेकिन अन्तर का सत्य इससे बिलकुल उलटा है। विदेश में मेरे पास कवि की कुछ पुस्तकें थीं। ये काव्य और कथा की पुस्तकें थीं और मन में परम श्रद्धा और विश्वास था। तब घुमा-फिरा कर उन्हीं पुस्तकों को बार-बार पढ़ता था। उनके छन्द कैसे हैं, कितने अक्षर हैं, कला किसे कहते हैं, उसकी संज्ञा क्या है, वजन मिलाने पर कहीं कोई त्रुटि है या नहीं इन बड़ी बातों पर तब विचार नहीं किया था। वे मेरे लिए थीं केवल सुदृढ़ प्रत्यय के रूप में। मन में इतना ही था कि इससे बढ़कर पूर्णतर सृजन दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता। क्या काव्य में, क्या कथा साहित्य में, यही मेरी पूँजी थी।

एक दिन अप्रत्याषित रूप से जब साहित्य सेवा का आह्वान आया तब जवानी का दावा समाप्त कर प्रौढ़ता की सीमा में पैर रख चुका था। देह थका हुआ था और उद्यम सीमित था। सीखने की उम्र बीत चुकी थी। प्रवास में रहता था, सबसे विच्छिन्न था, सबसे अपरिचित था। लेकिन आह्वान को सुना। डर की बात मन में आई ही नही। और कहीं भी हो या न हो, साहित्य में मैं गुरुवाद को मानता हूँ।

मैं रवीन्द्र साहित्य की व्याख्या नहीं कर पाता। लेकिन नितान्त श्रद्धा ने मुझे उसके मर्म का पता दे दिया है। पंडितों के तत्व विचार में गलती है तो रहे, मगर मेरे लिए वही सत्य बना हुआ है।

जानता हूँ, रवीन्द्र साहित्य की आलोचना में ये बातें फिजूल हैं, शायद अर्थहीन भी। लेकिन शुरू में ही मैंने कहा है कि आलोचना करने मैं नहीं आया हूँ। इसकी सहस्र-धारा में प्रवाहित सौन्दर्य, माधुर्य का विवरण देना भी मेरी क्षमता से परे है। मैं आया था केवल अपनी व्यक्तिगत थोड़ी बातों को इस जयन्ती उत्सव में निवेदन करने।

काव्य, साहित्य और कवि रवीन्द्रनाथ को मैंने जैसा पाया है उसे बतलाया। मनुष्य—रवीन्द्रनाथ के सम्पर्क में, मैं बहुत ही कम आया हूं।

एक दिन कवि के निकट गया था, बंगला साहित्य में आलोचना की धारा प्रवर्त्तित का प्रस्ताव लेकर। नाना कारणों से कवि स्वीकार नहीं कर सके। उसका एक कारण यह बतलाया था कि जिसकी प्रशंसा करने में वे असमर्थ हैं, उसकी निन्दा करने में भी वह उसी तरह अक्षम हैं। यह भी कहा था कि तुमलोग अगर इस काम को करते हो तो यह कभी मत भूलना कि अक्षमता और अपराध दोनों एक वस्तु नहीं है। सोचता हूँ, साहित्य पर विचार करते समय इस सत्य को अगर सभी याद रखते।

लेकिन इस सभा का बहुत सा समय नष्ट किया, अब अधिक नहीं। अयोग्य व्यक्ति को सभापति चुनने का यह दंड है। इसे आपलोगों को सहना ही पड़ेगा। जो भी हो रवीन्द्र-जयन्ती के उपलक्ष्य में यह समादर, सम्मान मेरी आशा से परे हैं। इसीलिए सकृतज्ञ चित्त से आप लोगों को नमस्कार करता हूं।

[१३३८ में रवीन्द्र जयन्ती के उपलक्ष्य में पढ़ा गया।]

परिशिष्ट

सत्याश्रमी

छात्र, युवक और समवेत बन्धुगण,

बँगला भाषा में शब्दों की कमी नहीं थी। परन्तु इस आश्रम के प्रतिष्ठाताओं ने चुनकर इसका नाम रखा है अभय आश्रम। बाहर के जन समाज में प्रतिष्ठान के नामकरण के लिये विभिन्न प्रकार के नाम तो थे, फिर भी उन्होंने उसका नाम रखा है अभय आश्रम। बाहर का परिचय गौण है। ऐसा लगता है मानो संघ स्थापित करके विशेष रूपसे वे अपने को ही कहना चाहते हैं कि देश के काम के लिये हम निर्भय हो सकें, इस जीवन के यात्रा-पथ में हमारे सामने कोई भय न रहे। सभी प्रकार के दुःख, दैन्य और हीनता के मूल में मनुष्यत्व के चरम शत्रु भय की उपलब्धि करके विधाता से उन्होंने अभय वर की प्रार्थना की थी। नामकरण के इतिहास में इस तथ्य का मूल्य है और आज मेरे मन में कोई संशय नहीं कि उनका निवेदन विधाता के दरबार में स्वीकृत हुआ है। कार्यसूत्र में इनसे मेरा परिचय बहुत दिनों का है, दूर से थोड़ा-बहुत जो विवरण सुन पाता था उससे मेरे मन में यह प्रबल आकांक्षा थी कि एक बार अपनी आँखों से जाकर सब कुछ देख आऊँ। इसीलिये मेरे परम प्रीतिभाजन प्रफुल्लचन्द्र ने (डा० प्रफुल्लचन्द्र घोष अनु०) जब मुझे सरस्वती पूजा के उपलक्ष में यहां बुलाया तो उस आमंत्रण को मैंने अतिशय आनन्द के साथ ही स्वीकार किया। केवल एक शर्त करा ली कि अभय आश्रम की ओर से मुझे अभय दिया जाय कि मंच पर खड़ा करके मुझे असाध्य-साधन में नियुक्त नहीं किया जायगा। भाषण देने की विभीषिका से मुझे छुटकारा दिया जायगा। जीवन में अगर किसी

चीज से भय खाता हूँ तो इसी से। पर इतना कहना था कि अगर समय मिला तो दो एक पंक्ति लिख ले जाऊँगा। लिखना प्रयोजन की दृष्टि से भी यत्सामान्य होगा, उपदेश की दृष्टि से भी अकिंचित् कर। इच्छा थी कि बातों का बोझ न बढ़ा कर उत्सव के मिलने-जुलने के अन्दर मे, आप लोगों के बीच से, आनन्द का संचय करके घर लौटूँगा। मै उस संकल्प को भूला नहीं हूँ और न दो दिनों मे धोखा भी नहीं खाया, लेकिन यह मेरा अपना पक्ष है। बाहर का भी एक पक्ष है, वह जब आ पड़ता है तो उसके दायित्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह भाई प्रफुल्लचन्द्र की मुद्रित कार्य-सूची, लेकर रवाना होना पड़ेगा, समय नहीं है लेकिन पढ़ देखा, अभय आश्रम पश्चिम विक्रम-पुर (ढाका जिले की एक तहसील अनु०) के निवासी छात्राओं और युवकों के मिलन क्षेत्र का आयोजन किया है। लड़के यहाँ समवेत होंगे। वे मुझे छुटकारा नहीं देंगे। कहेंगें, किशोरावस्था से छपी पुस्तकों के अन्दर मे आपकी कितनी ही बातें सुनी हैं, आज जब निकट पाया है तो कुछ सुने और नहीं छोड़ेंगें। इसी के फलस्वरूप मैंने यह कुछ पंक्तियाँ लिखी है। शायद उन्हें लगगा अच्छी बात है। लेकिन इतनी बड़ी भूमिका की कौन सी आवश्यकता थी।

इसके उत्तर में एक बात स्मरण करा देना चाहता हूं कि भीतर की वस्तु जब कम होती है तब भूमिका के आडंबर से भी श्रोताओं के मुंह को बन्द करने की आवश्यकता पड़ती है।

अपनी चिंता शीलता से नयी बात कहने की शक्ति, सामर्थ्य मुझमें कुछ भी नहीं, स्वदेश-वत्सल नेतृ-स्थानीय व्यक्तियों के मुँह मे बहुतेरी सभा समितियों में आप लोगों ने जो बातें कितनी ही बार सुनी है, मै उन्हीं को केवल लिपिबद्ध कर लाया हू। सोचा है, नवीनता न रहे, मौलिकता कितनी ही बड़ी क्यों न हो, सत्य कथन उससे भी बड़ा है। पुराना होने के कारण वह तुच्छ नहीं है, उसे एकवार फिर स्मरण

करा देना भी बड़ा काम है, उसी तरह की दो तीन बातों का आज मैं आप लोगों के सामने उल्लेख करूंगा।

कुछ दिनों से मैं एक बात को लक्ष्य करता आ रहा हूं, सोचता हूं। इतना बड़ा सत्य इतने दिनों तक गुप्त कैसे था। अभी उस दिन तक सभी जानते थे सभी मानते थे, कि राजनीति नामक वस्तु पर केवल बूढ़ों की ही इजारेदारी है। आवेदन, मान, अभिमान से लेकर आंखें दिखाने तक विदेशी राजसत्ता से मुकाबिला की जितनी जिम्मेदारियाँ हैं, सब उन्हीं की है। लडकों का यही प्रवेश बिल्कुल निशिद्ध है। केवल अनधिकार चेष्टा ही नहीं, गहिरा अपराध भी है। वे स्कूल कालेजमें जायँगे, भोले-भाले अच्छे लड़के बनकर परीक्षामें उत्तीर्ण होकर बाप-माँ का मुख उज्वल करेंगे। छात्र जीवन की यही सर्व सम्मत नीति थी। इसमें कोई व्यतिक्रम हो सकता है, इसके विरुद्ध कोई प्रश्न उठ सकता है, यह मानों लोगोंके लिये स्वप्नके परे की बात थी। अचानक कहाँ से एक आँधी आई, आंधी ने आकर उसके केन्द्र को ठेलकर परिधि के बाहर फेंक दिया। बिजली की कौंध जिस तरह अकस्मात घने अंधकार के कलेजे को चीर कर वस्तु को प्रकाशित करती है। निराशा और वेदना की अग्नि शिखा आज ठीक उसी तरह ही सत्य को उद्घाटित कर रही है जो आंखों से ओझल थी वह उसके सामने आ पड़ी है। सारे भारतवर्ष में आज कहीं सन्देह का लेश मात्र नहीं कि लोग इतन दिनों तक जो कुछ सोचते आये हैं, वह गलत है। उसमें सत्य नहीं था, इसीलिये विधाता ने बारम्बार देश के सर्वांग में व्यर्थताकी कालिमा पोत दी हो। यह गुरु भार वृद्धों के लिये नहीं है, यह भार जवानों पर है। इसीलिये आज स्कूल, कालेज, ग्राम नगर, भारत के प्रत्येक घर में जवानों के लिये आह्वान आया है। आह्वान वृद्धों ने नहीं किया है, विधाता ने स्वयं किया है। उनका आह्वान कानों के अन्दर से हृदय में पहुँचा है कि जननी के हाथों-पैरों

में पहिनाई कठोर शृंखलाओं को तोड़ने की शक्ति अति प्राज्ञ प्रवीणों के हिसावी अक्ल में नहीं है, यह सत्य है केवल जवानी के जीवन चंचल हृदयों में। इस निस्संशय आत्म-विश्वास पर आज उसे प्रतिष्ठित होना ही पड़ेगा। अब तक विदेशी वणिक राजसत्ता को कोई चिन्ता नहीं थी, वृद्धोंकी राजनीति चर्चा को उसने खिलवाड़ ही समझा था। लेकिन अब उसे खिलवाड़ करने का अवसर वह नहीं है, चारों दिशाओं में उसके चिह्न क्या आप लोगों ने नहीं देखे हैं। अगर नहीं देखे हैं तो आँखें खोलकर देखनेके लिये कहता हूँ, राजशक्ति आज व्याकुल है और अचिर भविष्य में यह अव्यग्राकुलता सारे देश में छन जायगी। मैं कहना चाहता हूँ कि आप लोग इस सत्य को समग्र हृदय से उपलब्ध करें। यह भी कहता हूँ कि उस दिन इस सत्योपलब्धि की अवज्ञा न होने पावे।

यहाँ एक बात कह दूँ। क्योंकि सन्देह हो सकता है कि सभी देशों में ही तो राजनीति के संचालन का भार वृद्धों पर ही होता है। लेकिन यहाँ वैसा क्यों नहीं होगा। व्यतिक्रम यहाँ भी नहीं होगा, एक दिन उन्हींपर ही राजशासन का दायित्व आयेगा लेकिन वह दिन आज का नही है, वह अभी आ नहीं पहुँचा है। कारण यह है कि देश का शासन करना और स्वाधीन करना एक वस्तु नहीं हैं। इस बात को याद रखना बहुत जरूरी है कि राजनीति संचालन एक पेशा है। जैसे डाक्टरी, वकालत, अध्यापन उसी तरह का। अन्य विद्याओं की तरह उसे भी सीखना पड़ता है, आयत करने में समय लगता है। तर्कों के दाँव-पेंच, बातों की लड़ाई, कानून के दरार ढूँढ़ कर दो-चार कड़ी बातें सुना देना फिर यथा समय आत्म-संवरण और विनीत भाषण, ये कठिन बातें है और उनके सिवा इसमें पारदर्शिता नहीं उत्पन्न होती है। इसी का नाम राजनीति है। स्वतंत्र देश में इससे जीवन-निर्वाह किया जा सकता है। लेकिन

पराधीन देशों की यह व्यवस्था नहीं है। वहाँ देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पग-पग पर अपने को बलिदान करते हुए चलना पड़ता है। यह उसका पेशा नहीं बल्कि धर्म है। इसीलिये परम त्याग के व्रत को एकमात्र जवानी ही ग्रहण कर सकती है, यह उसके स्वाधिकारकी चर्चा है। अनधिकार चर्चा न होने के कारण ही राजशक्ति इसे भय की दृष्टि से देखने लगी है। यही स्वाभाविक है और इसके गति-पथ में बाधाओं का अन्त नहीं होगा, यह भी उसी तरह स्वाभाविक है। लेकिन इस सत्य को क्षोभ के साथ नहीं, आनन्द से ही स्वीकार करके अग्रसर होने के लिए आप लोगोंका आह्वान करता हूँ।

शब्दों की घटाओं और वाक्यों की छटाओं से उत्तेजना पैदा करने में असमर्थ हूँ। शान्त समाहित चित्त से सत्योपलब्धि करने का ही मैं अनुरोध करता हूँ। हम आत्मविस्मृत जाति हैं। हमारे यहाँ यह था, वह था और यह है, वह है, अतएव आँखें मीचकर उठ बैठते ही सब कुछ मिल जायगा, इस जादू का आश्वासन देने की प्रवृत्ति मेरी कभी नहीं होती है। संसार माने या न माने हम एक बड़ी जाति हैं, उछलकूद मचाकर चारों ओर इसकी घोषणा करने में मैं जिस प्रकार गौरव का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार विदेशी राजशक्ति को धिक्कार देकर कहने में मुझे लज्जा का बोध होता है कि हे अंग्रेज तुम लोग कुछ नहीं हो, क्योंकि अतीत काल में जब हम लोगों ने इन बड़े-बड़े कामों को किया उस समय तुम लोग पेड़ों की डालों पर कूदते-फिरते थे। और व्यंग करते हुए मुझे कोई कहता है कि तुम लोग अगर सचमुच ही इतने बड़े हो तो हजार वर्षों से कभी पठान, कभी मुगल, कभी अंग्रेजोंके चरणोंपर तुम्हारा मस्तक क्यों नत होता है? तो इस उपहास के प्रत्युत्तर में भी मैं इतिहास की पोथियों को उलटकर दूसरी जातियोंकी दुर्दशा के नजारे पेश करने में घृणा का अनुभव करूँगा। वस्तुतः इस तर्क से कोई फायदा नहीं। अतीत काल

में तुम्हारे-हमारे पास क्या था, इसे लेकर ग्लानि बढ़ाने से क्या होगा। मैं कहता हूँ अंग्रेज आज तुम बड़े हो। शौर्य में, वीर्य में, देशभक्ति में तुम्हारा सानी नहीं है, किन्तु मेरे बडे होने की सामग्री भी मौजूद है। आज देश का युवक-चित्त रास्ते की तलाश में चंचल हो उठा है, उसे रोकने की शक्ति किसी में नहीं है, तुममें भी नहीं है। तुम जितने भी बड़े क्यों न हो, वह तुम्हारी तरह बड़ा होकर अपने जन्मसिद्ध अधिकार को प्राप्त कर ही लेगा।

लेकिन किस संज्ञा से यौवन का निर्देश किया जा सकता है। अतीत जिसके लिये अतीत से अधिक नहीं, वह जितना ही बड़ा क्यों न हों, मुग्धचित्त होकर उसी से चिपक कर समय गँवाने की फुरसत जिसे नहीं है, जिसकी वृहत्तर आशा और जिसका विश्वास अनागत के अन्तराल की कल्पना से उद्भासित है, वही तो यौवन है। यहीं वृद्धोंका पराजय है। उसकी शक्ति शेषप्राय है। भविष्य आशाहीन शुष्क है, आगे का पथ अवरुद्ध है, जीवन के अन्तिम समय के दिनों को जीजान से अतीत से चिपके रहने में ही उसे सान्त्वना मिलती है, इस अवलम्बनको वह किसी भी देश में नहीं छोड़ सकता। उसे बराबर भय रहता है कि इससे अलग होनेपर उसे खड़े होने का शरण कहीं मिलेगा! स्थितिशक्ति शान्ति ही उसके लिए एकमात्र आश्रय है। बहुत दिनों से पिंजड़े में बन्द चिड़ियों की तरह मुक्ति ही उसका बन्धन है, मुक्ति ही इसके सुनियंत्रित अभ्यास सिद्ध जीवन धारण प्रणाली की वास्तविक बाधा है। यहाँ जवानी में और उसमें प्रचण्ड भेद है। समाज की, जाति की स्वतंत्रता प्राप्ति की जिम्मेदारी जितने दिनों तक इन वृद्धों के हाथों मे रहेगी, बन्धन की गाँठें एक-एक करके बढ़ती ही जायँगी, खुलेगी नहीं, लेकिन जवानी का घमंड इसके विपरीत है। इसलिये जिस दिन से सुना कि स्कूल कालेज के विद्यार्थी उस राजनीति को जो केवल मात्र राजनीति

नहीं है, जो राजनीति देश के स्वतंत्रता यज्ञ में व्रत की तरह है, धर्म की तरह है उसी को ग्रहण करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। इस कुसंस्कार के हाथों से मुक्त हो गये हैं कि यह वस्तु उनके छात्र जीवन का विरोधी है, उसी दिन से हो मुझे विश्वास हो गया है कि अब सचमुच ही हमारी दुर्गति का अन्त होगा। छात्र और देश के युवकों से मेरा निवेदन है कि इस संकल्प से उन्हें किसी के कहने किसी भी प्रलोभन से डिगना नहीं चाहिये।

इस विषय में बहुतेरे मनीषी व्यक्तियोंने कितने ही उपदेश दिये। तुम लोग यह करो वह करो। यही तुम्हारे लिये करणीय है, यह आचरण ही प्रशस्त है स्वार्थ त्याग करना होगा हृदय में देश-प्रेम की अग्नि प्रज्वलित करनेको आवश्यकता है, जाति-भेद को अस्वीकार करना, छुआ-छूत को बन्द करना, खद्दर पहिनना, इस तरह के बहुतेरे आवश्यक और मूल्यवान आदेश और उपदेश उन्होंने दिये हैं, यह तो हुई कार्य-सूची। अन्य प्रकार के उपदेश, भिन्न प्रकार की कार्य सूची भी है। आप लोगों की ही तरह देश के बहुतेरे युवक और छात्र मुझसे पूछते हैं हम क्या करें आप बता दीजिये। जवाब में मैं कहता हूँ कार्य-सूची तो मैं नहीं दे सकता, मैं तुम लोगों से केवल कह सकता हूँ कि तुम लोग दृढ़ता पूर्वक सत्याश्रयी बनो। वे प्रश्न करते हैं कि इस क्षेत्र में सत्य क्या है, भिन्न-भिन्न मतामत और कार्य सूची हमें विभ्रांत कर देते हैं। देश, काल और पात्र के संबन्ध से ही सत्य की परीक्षा होती है। देश काल पात्र के परस्पर के संबन्ध, का सत्य ज्ञान ही सत्य का स्वरूप है। एक के परिवर्तन के साथ ही दूसरेका परिवर्तन अवश्यम्भावी है, इस परिवर्तन को बुद्धिमानी से स्वीकार कर लेना ही सत्य को जानना है। जैसे बहुत पुराने जमाने में राजा ही भगवान का प्रतिनिधि था। देश के लोगों ने इस बात को मान लिया था। इसे मैं असत्य नहीं कहना चाहता। प्राचीन

युग में हो सकता है, यही सत्य हो । लेकिन आज ज्ञान और वातावरण के परिवर्तन के फलस्वरूप यह बात अगर गलत ही सिद्ध हो तो भी प्राचीन काल के युक्ति और उक्ति मात्र को ही अवलम्बन करके इसी को सत्य मानकर अगर कोई बहस करता है, तो उससे और कुछ भी क्यों न कहूँ सत्याश्रयी नहीं कहूँगा। लेकिन केवल मानना ही इसका सब कुछ नहीं, वस्तुत: और एक पक्ष से इसकी कोई भी सार्थकता नहीं, अगर विचार, वाक्य और व्यवहार में जीवन यात्रा के पग पग पर यह सत्य विकसित नहीं हो उठता है। गलत समझना भ्रान्त धारणा बल्कि अच्छी है, लेकिन भीतर के जानने और बाहर के आचरण में अगर सामंजस्य नहीं है, अर्थात् अगर जानता हूँ एक तरह और कहता हूं दूसरी तरह तो जीवन में इससे बढ़ कर व्यर्थता, इससे बढ़कर कायरपन और दूसरा नहीं जीवन के धर्म को छोटा बनाने वाला इससे बढ़कर दूसरी चीज नहीं। छुआ छूत, जाति भेद, खद्दर पहनना, राष्ट्रीय शिक्षा, देश का काम। ये सत्य या असत्य, अच्छी है या बुरी, इसकी आलोचना मैं नहीं करूँगा। इनकी सच्चाई झुठाई तो समझाने के लिये आप लोगों को मुझ से योग्य व्यक्ति मिलेंगे लेकिन मैं केवल यही निवेदन करूँगा कि आप लोगों की समझ और कार्य में एकता होनी चाहिये। जानता हूँ छुआ छूत, आचार विचार बेमानी है, फिर भी मानता जाता हूं! जानता हूं जाति भेद घोर अकल्याण-कर है, फिर भी अपने आचरण में उसे प्रकट नहीं कर पाता। समझता और कहता हूं विधवा विवाह उचित है, फिर भी अपने जीवन में उसे अस्वीकार करता हूं। जानता हूं खद्दर पहिनना उचित है फिर भी विलायती कपड़े पहिनता हूं, इसी को मैं असत्याचरण कहता हूं। देश को दुर्दशा और दुर्गति की ओर यह महापाप हमें कितना नीचे खींच लाया है, उसकी शायद हम कल्पना भी नहीं करते। यही बात

चारों ओर दिखाई पड़ती है। दृष्टांत देकर समय बर्बाद करने की आवश्यकता नहीं प्राथना करता हूं, दीनता और कायरता के इस गहरे कीचड़ से देशका जीवन मुक्त हो। गलत समझ कर गलत काम करने से अज्ञता का अपराध होता है। पर वह कहीं अच्छा है। लेकिन ठीक समझ कर बे-ठीक काम करना केवल सत्य भ्रष्टता ही नहीं, बल्कि असत्य निष्ठा है, उसके प्रायश्चित का जब समय आता है। तो सारे देश की शक्ति से भी पूरा नहीं पड़ता है। इस बात को याद रखना होगा कि सत्य-निष्ठा ही शक्ति है, सत्य-निष्ठा ही सारे मंगलों का आधार है और अंग्रेजी में जिसे कहते हैं टेनसीटी आफ परपस (धुन का पक्का) वह भी इसी सत्य-निष्ठा का विकास है। इसलिये देश के युवकों से बारम्बार यही आवेदन करता हूं, सत्य-निष्ठा ही उनका व्रत बने। क्योंकि निश्चित रूप से जानता हूं कि इस व्रत को ग्रहण करने से ही उनके सामने की सारी बाधायें दूर होंगी और यथार्थ कल्याण का पथ उन्मुक्त हो जायगा। कार्य सूची और पथ की दुश्चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

आज की कार्य-सूची में एक विषय है लाठी, तलवार और छुरे का खेल, अब तक शारीरिक कसरत की ओर छात्र समाज बिल्कुल लापरवाह हो गया था ऐसा लगता है कि यह धीरे धीरे फिर वापिस आ रहा है। मैं इस प्रत्यागमन का हृदय से अभिनन्दन करता हूं। वे देख रहे हैं कि ठोकर से सिर्फ दुर्बल शक्ति-हीनों की ही तिल्ली फटती है, शक्तिशाली पठानों की नहीं। फटती है बंगाली की। शायद बारम्बार इस धिक्कार के कारण ही शारीरिक-शक्ति अर्जुन की स्पृहा सी लौट आयी है। व्यायाम से शक्ति बढ़ती है, आत्म-रक्षा का कौशल आयत होता है, साहस बढ़ता है, लेकिन फिर भी इस बात को भूलने से काम नहीं चलेगा कि यह सब शरीर के मामले हैं। अतएव यही सब कुछ नहीं है। साहस बढ़ना और

निर्भीकता अर्जन करना दोनों एक ही बात नहीं है। एक दैहिक है दूसरा मानसिक। शरीर की शक्ति और कोशल की वृद्धि से अपेक्षाकृत दुर्बल और अनाड़ी को पछाड़ा जा सकता है। लेकिन निर्भयता की साधना से शक्तिशाली भी परास्त किया जा सकता है, संसार में कोई उसे बाधा नहीं दे सकता है, वह अपराजेय हो जाता है। अतएव प्रारम्भ में जिस बात को एक बार कहा है उसकी पुनरुक्ति करके फिर कहता हूं कि अभय आश्रम इसी साधना में नियुक्त है। इनकी साधना कुछ उसी की एक सीढी है, एक उपाय है। यह इनके पथ हैं, अन्तिम लक्ष्य नहीं। अभाव, दु:ख, क्लेश, पड़ोसियों की लांछना, मित्रों की शिकायत, प्रबल का पीड़न कोई भी वस्तु इनके मुक्ति के पथ को बाधा-ग्रस्त नही कर सकता, यही उनका एक मात्र प्रण है। यही तो निर्भयकी साधना है और इसीलिये सत्य-निष्ठा ही उनके गन्तव्य-पथ को निरन्तर आलोकित कर रही है। खद्दर-प्रचार राष्ट्रीय विद्यालय को स्थापना, अस्पताल खोलना, दुनिया की सेवा यह अच्छी है या बुरी अगर इनकी सत्य-निष्ठा इन्हें दूसरे पथका निर्देश देती है तो इस सारे आयोजन को अपने ही हाथों से खतम कर देने मे अभय आश्रमियों को क्षण भर भी देर नहीं लगेगी, यही मेरा विश्वास है। और कामना करता हूं कि मेरा यह विश्वास सत्य है।

मेरी उम्र बहुत हुई, फिर भी यहाँ आकर बहुत कुछ सीखा, इस अभय आश्रम के अतिथि होने के सौभाग्य को म अन्तिम दिन तक याद रखूंगा।

अन्त में, इस छात्र और युवक संघ को आशीर्वाद देता हूं कि इन्हीं जैसी सत्यनिष्ठा उनके जीवन का भी ध्रुवतारा वने।

आप लोग मेरे सकृतज्ञ हृदय का नमस्कार स्वीकार करे।

[गैर कानूनी घोषित मालिकान्दा अभय आश्रम में विक्रम युवक और छात्र सम्मेलन के अधिवेशन में १५ फरवरी १६२६ को दिया गया भाषण 'बांगलार रूप' विशेषांक, १३४५।]

युवक-संघ

कल्याणीय वेणु के किशोर किशोरी पाठकगण उत्तरीय बंगाल के रंगपुर शहर से तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ तुमलोगों को शायद मालुम होगा कि बंगाल में युवक समिति के नाम से एक संघ की स्थापना हुई है। हो सकता है कि आज भी तुमलोग इसके सदस्य न बने हो। लेकिन एक दिन यह समिति तुम्हारे हाथों में आ ही जायगी। तुम्ही लोग इसके उत्तराधिकारी हो। इसलिये इस सम्बन्ध मे वे बातें तुम्हें बतला देना चाहता हूं। समिति का वार्षिक सम्मेलन कल समाप्त हुआ है। मै बूढ़ा आदमी हूँ, फिर भी लड़के लड़कियों ने मुझको इस सम्मेलन का नेतृत्व करने के लिये आमन्त्रित किया है। उन्होंने मेरी उम्र का ख्याल नही किया। कारण शायद यह है कि किसी तरह वे जान गये हैं कि मै उन्हें पहिचानता हूँ। उनकी आशा और आकाँक्षा से मेरा परिचय है। मै उनका निमंत्रण स्वीकार कर इसी बात को जानने के लिये आनन्द से दौड़ पड़ा था कि उन्हीं पर देश का भला-बुरा निर्भर करता है, इस सत्य को वे हृदय से उपलब्धि करे। लेकिन इस परम सत्य को समझने में उनके रास्ते में बहुतेरी बाधाये है। उनकी नजरो से इसे ढांक रखने के लिये न जाने कितने परदे तैयार किये गये हैं। और तुमलोग जिनकी उम्र और भी कम है उनके लिये तो बाधाओं का अन्त ही नहीं। बाधा देने वाले कहते हैं कि सभी सत्य को सभी को जानने का अधिकार नहीं है। यह तर्क इतना जटिल है कि न कहकर इसे पूरी तरह उड़ा नहीं दिया जा सकता और हां कहकर पूरी तरह मान भी नही लिया जा सकता और इसी बात में उनके बल है। लेकिन इस वस्तु की मीमांसा इस तरह नहीं होती है हुई भी नहीं है। सभी देशों में सभी कालों मे प्रश्न

पर प्रश्न आये ह। अधिकारी भेद का तर्क उठा है अन्त में उम्र की बात को छोड़ मनुष्य के छोटे-बड़े, ऊँच-नीच दशा की दुहाई देकर उसे मनुष्य समझे जान के अधिकार से वंचित कर रखा गया है।

इसी तरह तुम लोग भी अपनी जन्मभूमि के विषय में कितनी ही बातों की जानकारी से वंचित हो। सच्ची खबर पाकर तुम्हारा मन विक्षिप्त हो उठे। तुम्हारा स्कूल कालेज की पढ़ाई में, तुम्हारी परीक्षा नामक परम वस्तु में उत्तीर्ण होने में बाधा पहुँचे इस आशंका से झूठ का तुम्हारी नजरों पर पर्दा डाला जाता है। इस बात को शायद तुम जान भी नहीं पाते।

युवक-समिति के सम्मेलन में इसी बात को मैंने अधिकतर कहना चाहा था। कहना चाहा था कि तुम्हारे पराधीन देश को विदेशियों के शासन से मुक्त करने के अभिप्राय से ही तुम्हारा संघ बना है। स्कल, कालेज के विद्यार्थियों को पढ़ाई को अवस्था में भी देश के काम में योग देने, देश की स्वतन्त्रता परतन्त्रता के विषय में विचरने का अधिकार है। और इस अधिकार की बात को मुक्त कंठ से घोषित करने का अधिकार भी है। देश की पुकार के रास्ते में उम्र किसी के लिये बाधक नहीं हो सकती है, तुमलोग जैसे किशोरों के लिये भी।

परीक्षा पास करने की आवश्यकता है, लेकिन यह उससे भी अधिक आवश्यक है, बचपन में इस सत्य चिन्तन से अपने को अलग रखने से जो टूटन पैदा होती है, उम्र बढ़ जाने पर वह फिर जुड़ना नहीं चाहती है। इस उम्र की शिक्षा ही सबसे बड़ी शिक्षा है। खून के साथ बिल्कुल घुल-मिल जाता है।

खुद भी तो देखता हूँ कि बचपन में माँ की गोद में बैठकर जो कुछ सीखा था, वह इस बुढ़ापे में भी अक्षुण्ण है। वह शिक्षा मिटती नहीं है।

अपने बारे में भी इस बात को सही मानना। यह मत समझना कि आज अवहेलना के कारण जिधर जब नजर नहीं डाली, बड़े होकर उधर

तुम अपनी मर्जी से देख सकोगे। शायद नहीं देख सकोग, शायद हजारों चेष्टाओं के बाद भी वह दुर्लभ वस्तु सदा के लिये तुम्हारी आँखों से दूर ही रह जायगी। जो शिक्षा परम श्रेय है, उसे इस किशोरावस्था में ही नसों के खून के साथ प्रवाहित करके लेनी पड़ती है, तभी उसका पाना यथार्थ होता है। कल को इस युवक-समिति के युवकों ने कांग्रेस की रीति-नीति बचपन में ही अपनायी थी, इसलिये वे इसे नही छोड़ सके यह भय की बात नहीं है।

[रंगपुर १७ चैत्र १३३६ वेणु, तृतीय वर्ष अंक, वैशाख १३३६ ई०]

नई कार्य सूची

श्री परशुराम

शरत बाबू के रंगपुर भाषण के उत्तर में चर्खे को लेकर लम्बी बहस चल पडी, आज भी उसका अन्त नहीं हुआ। चरखा भक्तों के दल ने पहिले प्रचार कर दिया कि उन्होंने महात्मा जी की चोटी में चरखा बाँधने का प्रस्ताव किया है। इतनी बड़ी असम्मान जनक बात उनके भाषण में नहीं थी।

लेकिन कहने से क्या होता है, थी ही। नहीं तो भक्तों को वेदना प्रकट करने का अवसर कैसे मिलता। लेकिन स्वयं शरत बाबू जब मौन हैं तो मेरे जैसे एक साधारण व्यक्ति का वकालत करने जाना अनावश्यक है। अपने सिर पर चोटी नहीं है कोई पकड़ कर गुस्से में आकर बांध देगा यह भी नहीं होने का अतएव इस ओर से निरापद हूं लेकिन भाषण में केवल चोटी ही नहीं चरखा भी था। अतएव वैज्ञानिक प्रफुल्लचन्द्र शीघ्रता पूर्वक ढाका से मातृभूमि गये और युवक समिति के सम्मेलन में प्रतिवाद किया। ठीक ही हुआ यह युवक समिति का ही मामला था तरुण वैज्ञानिक बूढ़े साहित्यिक के तमाकू पीने के विरुद्ध घोर आपत्ति करके लौट आये। सभी एक के लिए धन्य-धन्य और दूसरे के लिए छिः-छिः करने लगे। फिर भी आशा नहीं है कि वे तीन काल पार करके चौथे काल में तमाकू पीना छोड़ देंगे। इसके बाद प्रतिवाद शुरू हुआ, फिर उसका भी प्रतिवाद। दो एक अखबारों को खोजने से अभी एकाध दिखायी पड़ते हैं।

लेकिन हम सोच रहे हैं कि शरत बाबू ने कौन सा अपराध

किया। उन्होंने कहा था कि बंगाल के लोगों ने चरखे को नहीं ग्रहण किया है। अतएव ग्रहण न करना अपराध है तो वह इस प्रान्त के लोगों का है। खामख्वा उनपर क्रोध करने से फायदा नहीं। इस विषय में मुझे भी थोड़ा अनुभव है। अपनी आंखों से देखा है कि आठ वर्ष तक चरखे को लेकर लोगों से कितनी बार भिड़न्त हुआ। लेकिन शुरू से हम लोग जो टेढ़े, सुराज का लोभ, महात्मा जी की दुहाई, वन्देमातरम की कसम, किसी भी चीज से उन्हें सीधा नहीं किया जा सका। अगर किसी ने चरखा लिया भी तो दाम नहीं दिया। भाषण के बलपर जो दल में लाया गया उसने और भी अधिक मुसीबत पैदा की। नये उत्साह से काम शुरू करके दस पन्द्रह दिनों के बाद ही उलझे हुये सूत की एक लच्छी लेकर हाजिर हुये। उसके चारों ओर नाम धाम का पुरजा चिपका हुआ रहता अर्थात गड़बड़ी में कहीं खो न जाय। कहा महाशय, एक बड़ी साड़ी तो बीनदें। कार्यकर्ता कहते इससे कहीं साड़ी बनती है?

नहीं बनती। अच्छा साड़ी की जरूरत नहीं धोती ही बीनदे लेकिन देखे कहीं पनहा छोटा न हो जाय।

कार्यकर्ता वृन्द—इससे धोती भी नहीं बनेगी।

कैसे नहीं बनेगी? अच्छा, सीधे दस हाथ न हो, नौ साढ़े नौ हाथ को तो बनेगी हो? अच्छी बात है इतनी ही सही। अच्छा चला। इतना कह कर जाने के लिए उद्यत होता है।

जान बचाने के लिए, कार्यकर्ता चिल्ला कर हाथ मुंह हिलाडुला कर समझाने की चेष्टा करता है, कि यह ढाका का मलमल नहीं है, खद्दर है। एक लच्छी सूत कम नहीं है, कम से कम एक टोकनी सूत चाहिये।

यह तो हुई बाहर के लोगों की बात। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि कार्यकर्ताओं के उत्साह उद्यम अथवा खद्दर निष्ठा में लेशमात्र भी अन्तर था मैं नहीं कह सकता पहले युग में मोटे

खद्दर के मार पर ही प्रधानतः देश भक्ति निर्भर करती थी। सुभाष-चन्द्र की बात याद आती है।

वह सामियाना बनाने के देशी कपड़े को बीच से सिला कर पहिन कर आते थे। समवेत प्रशंसा के मृदु गुंजन से सभा मुखरित हो उठती और उस परिधेय वस्त्र की कर्कशता, दृढ़ता, स्थायित्व और वजन की कल्पना करके किरनशंकर आदि भक्त वृन्दों की दोनों आखें भावावेश में अश्रुसिक्त हो उठती थीं।

लेकिन सामियाने के कपड़े से पैरा नहीं पडा। घुटने तक धोती पहनने का युग आया, उस दिन असल कार्यकर्त्ता साफ पहिचान में आ गये। यथा अनिलचरण, दीर्घ शुभ्र देह घुटने भर को ढंक खड़ाउं पर जब सभा-प्रवेश करते थे तो श्रद्धा और सम्मान से सभी उपस्थित व्यक्ति आँख मूंदकर शिर नीचे कर लेते थे। और उनके सुखासीन न होने तक कभी किसी को भी आँख खोलकर देखने की हिम्मत नहीं होती थी। वे कैसे दिन थे। (माई ओनली आन्सर इज़ चरखा) मेरा एक मात्र उत्तर है चरखा। मुंह लटकाये सभी मन ही मन इसी महावाक्य का जप करते हुए समझते थे कि अंग्रेजों के लिए अब चारा नहीं, लंकाशायर का दिवाला पिट जायगा, बेट अब मरे। आज अनिलचरण योगाश्रम में ध्यानस्थ बैठ कर इसी का प्रायश्चित कर रहे हैं।

उन दिनों विदेशी कपड़े का मतलब था मिल का कपड़ा। चाहे वह कहीं भी क्यों न तैयार किया गया हो। उन दिनों अपवित्र मिल के कपड़े को न पहिनने की प्रतिज्ञा करके अगर कोई देशभक्त दिगम्बर मूर्ति में भी प्रवेश करता, तो ३१ दिसम्बर की बात सोचकर किसी को कुछ कहने की हिम्मत न होती।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा था चरखे का कार्यक्रम नितान्त नादानी से भरा हुआ है इस बात को देखकर निराशा होती है कि सारादेश

इससे विभ्रान्त हो गया है । (दी प्रोग्राम आफ दी चरखा इज सो अटरली चाइल्डिश दैट इटज् वन् डिस्पैयर टु सी दि होल कन्ट्री, डिन्युडेड बाइ इट) उसी समय के बड़ों ने क्यों इतना दुःख प्रकट किया था, आज उसके कारण को समझा जा सकता है। लेकिन सभी अभी इस मोह से मुक्त नहीं हुये हैं प्रायः उसी तरह मोह अक्षुण्ण है इसके कितने ही उदाहरण भाषणों निबंधों और अखबारों के पृष्ठों मे दिखायी पड़ते है । लेकिन इसके लिये कोई चारा नहीं क्योंकि यदि व्यक्तिमत ही अंधी हो जाय तो उसका कोई इलाज नहीं । दृष्टान्त स्वरूप बंगाल के खद्दर के एक बड़े आढ़तदार की बात का उल्लेख किया जा सकता है ।

आश्रम बनाने से लेकर बकरी दुग्धपान तक उन्होंने सब कुछ ग्रहण किया है उसी तरह की चोटी उसी तरह से कपड़ा पहनना, उसी तरह से चादर ओढ़ना, उसी तरह से घुटने मोड़कर बैठना, उसी तरह से जमीन की ओर देखते हुए मृदु, मधुर वार्तालाप, सब कुछ । लेकिन कहा जाता है कि इससे भी उसका उपचार सम्पूर्ण नही हुआ है, सोलहों कलाओं से हृदय नहीं भरा है । उपेन्द्रनाथ का कहना है कि उन्होंने सामने के दांतों को उखड़वा डालने का फैसला किया है, वास्तव मे यह अनुराग अतुलनीय है। ऐसा लगता है मानों उन्होंने वैज्ञानिक प्रफुल्ल घोष को भी मात दे दिया है।

लेकिन यह तो हुई उच्चांग साधना पद्धति। सभी का इसपर अधिकार नही हो सकता । जो लोग इस कोटि में नहीं पहुंचे हैं, कुछ नीचे के स्तर पर है, उनका चरखा-तर्क भी काफी हृदयग्राही है । एक बात बार-बार कही जाती है चरखा कातने से आत्मनिर्भरता पैदा होती है । लेकिन यह वस्तु क्या है क्यों पैदा होती है, और चरखा घुमाने से बाहुबल की वृद्धि होती है या और कोई गूढ़ तत्व निहित है, यह बार-बार करने पर भी ठीक-ठीक समझ में नही आता । पर

इस बात को मानता हूं कि आत्म-निर्भरता की धारणा सभी की एक सी नहीं है। जैसे हमारे अमुक ने एक बार आत्म-निर्भरता पर भाषण देते हुए अपने वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए उपसंहार में ठोस उदाहरण देकर कहा था समझ लो तुम पेड़पर चढ़कर गिर पड़े। लेकिन गिरते-गिरते तुम अचानक उसकी एक डाल पकड़ सकते हो तभी समझना कि तुमने आत्म-निर्भरता की शिक्षा पा ली है, तुम स्वावलम्वी हो गये हो।

हाँ अगर ऐसा हो तो झगड़े की गुंजाइश नहीं। लेकिन यह तो हुआ सूक्ष्म पक्ष। इसके इस स्थूल पक्षकी आलोचना अधिक आवश्यक है, विशेषज्ञ बाबू राजेन्द्रप्रसाद के कथन को पेश करते हुए अक्सर कहा जाता है कि फुर्सत के वक्त प्रति दिन दो-चार घंटे चरखा कातने से मासिक दस-बारह आने आमदनी बढ़ती है। हाँ, गरीब शब्द अनपेक्षित शब्द नहीं है। एक भी तुलनात्मक शब्द नहीं है। अर्थ नीति में उपान्तिक आवश्यकता (मारजीनल यूटिलिटी) नामक जिस वस्तु का उल्लेख है वह जिस वस्तु का शास्त्र है यह उसी के उपलब्धि की वस्तु है। हम अपने देश के गरीब शब्द के अर्थ को भी समझते हैं, इसे लेकर बहस नहीं करते। लेकिन रोजाना एक डेढ़ पैसे की आमदनी की बढ़ती से किसान खा पहिन कर मुस्तंड हो अंग्रेजों को खदेड़ कर कैसे स्वराज्य लेंगे, इसे समझना ही कठिन है।

अनिलचरण कहते हैं, कहाँ चरखा, कहाँ पूनी, कहाँ धुनियाँ, इतनी झंझट नहीं करके फुर्सतके वक्त में दो मुट्ठी घास छीलने से तो मासिक दस-बारह आना अर्थात् रोजाना एक डेढ़ पैसेकी आमदनी हो सकती है। वह यह भी कहते हैं कि इससे दूसरा फायदा भी है। ए० आई० सी० सी० की एक मीटिंग बुलाकर वोटाधिकार पास कर देने से लीडरों को घास छीलने के लिये गाँव में जाना ही पड़ेगा। क्योंकि शहरों में घास नहीं होती। अतएव इस तरह मेल-जोलसे

गाँव में संगठन का काम भी तेजी से बढ़ निकलेगा। कम से कम शहरों में मोटर हाँककर लोगों को उसके नीचे कुचलकर मारने के दुष्कर्म में कुछ कमी ही होने की सम्भावना है।

मैं कहता हूं कि अनिलचरण के प्रस्ताव पर उचित विचार होना चाहिये। रवीन्द्रनाथ देश वापिस आ गये हैं। हो सकता है कि वह सुनकर कहेंगे कि यह भी बिल्कुल नादानी है लेकिन हम कहेंगे कि कवियों में अकल नहीं होती अतएव उनकी बात सुनने से काम नहीं होगा। विशेषत: बारह महीने में तेरह महीने वह विलायत रहते हैं, वह देश की आबहवा कितनी जानते हैं? चरखा-विश्वासी अहिंसक गण हिंसक विश्वासियों को अधिकार देते हुए प्राय: कहा करते हैं कि तुम चरखा कातने जैसे सीधे काम को धीरज के साथ नहीं कर सकते तो तुम देश का उद्धार क्या करोगे? छि: छि:, तुम लोग डूब मरो।

सुनकर वे मृयमाण हो जाते हैं। कोई-कोई सोचते हैं, हो भी सकता है। जब चरखा ही नहीं कात सका तो हमसे और क्या होगा। लेकिन मैं कहता हूँ हताश होने की जरूरत नहीं है। अनिलचरण की कर्म-पद्धति की कमसे कम साल भर परीक्षा (ट्रायल) करना चाहिये। कारण यह और भी आसान है, चरखा नहीं खरीदना पड़ेगा, सीखना भी नहीं पड़ेगा, कपास की खेती भी नहीं करनी पड़ेगी, बजाज का शरणापन्न भी नहीं होना पड़ेगा। कोई भी कठिनाई नहीं। और पद्मा नदी का द्विधारा हुआ तो कोई क्षति ही नहीं, छीलना भी नहीं पड़ेगा, पकड़ते ही हाथ में आ जायगा। स्वराज्य मुट्ठी में है।

लेकिन अनिलचरण ने कहा है कि आस्थाहीन होनेसे काम नहीं चलेगा। ऐसे देखने पर यह प्रथा जितनी भी नादानी से भरी क्यों न दिखाई पड़े, तर्क जितनी भी उल्टी बातें क्यों न पेश करे, तथापि विश्वास करना होगा।

एक वर्ष म डोमिनीयन स्टेटस अवश्यम्भावी है। होना ही पड़ेगा। अगर न हो। वह लोगों का अपराध है, प्रोग्राम का नहीं। और तब आसानी से कहा जा सकेगा कि इतनी सहज पद्धति को जिस देश के लोग निष्ठा के साथ ग्रहण करके सफल नहीं बना सके, उनसे कभी कुछ नहीं होगा। असल बात है विश्वास और निष्ठा। एक से जब काम नहीं चला, तब दूसरे का होना चाहिये, इसी तरह से चेष्टा करते-करते एक दिन असल प्रोग्राम पकड़ में आवेगा ही। जय हो अनिलचरण की। कितने सस्ते में स्वराज्य का रास्ता बतला दिया !

अखिल भारत-चरखा-संघ ने संवाद दिया है कि बीस लाख का चरखा खरीदकर २२ लाखकी खादी तैयार हुई है। उत्सव होने लगे, सबने कहा अब चिन्ता की बात नहीं, विलायती कपड़ा दूर हो चला। कलकत्ते में काँग्रेस का अधिवेशन होनेवाला है, सुभाषचन्द्र ने कहा, सावधान ! मशीन का बना विदेशी एक लच्छी सूत भी प्रदर्शनी में न घुसने पाये। यह घुसा तो वह नहीं घुसेंगे।

नलनी रजन सरकार (अनु०) सांसारिक आदमी है। कितने धान में कितना चावल होता है इसका लेखा-जोखा लगाना उनका पेशा है। आँखें फाड़कर बोले, यह कसी बात है। विदेशी कपड़े का बाइकाट करने की जो प्रतिज्ञा की है। अपने इस बीस बाइस लाख से सत्तर अस्सी करोड़ का धक्का कैसे सम्हलेगा।

सेन गुप्ता (यतीन्द्र मोहन सेन गुप्ता अनु०) साहब ने दहाड़कर कहा हम उसी खद्दर के एक सौ टुकड़े करके लंगोटी पहिनेंगे। नलनी रंजन ने कहा कि इस बात को जानताहूं। लेकिन टुकड़े क्या उसके एक एक सूत से भी पूरा नहीं पड़ेगा।

सुभाष ने कहा कि कपड़े का बाइकाट बाद में होगा, फिलहाल महात्मा जी बाइकाट बरदास्त नहीं करेंगे। किरण शंकर ने कहा,

ठीक, ठीक ! महात्मा आये, लोगों से खबर पाकर प्रमाण पत्र भेज दिया कि फिलिस सरकस खूब जमा है ।

नेताओं न चूं तक नहीं किया । कहीं गुस्सा होकर वह स्वराज्य की कुंजी रोक न लें, बंगाल में जहाँ जितने आश्रम थे उनके तपविस्यों ने गाल बजाकर नाचना शुरू किया । कैसा हुआ ? करो प्रदर्शिनी ।

हम बाहरके लोग सोचते हैं, अवश्य ही पूर्ण स्वराज्य है । इसलिये डोमिनियन स्टेटस इन्हें नहीं रुचता है । आज भी एक बात सोचता हूं कि अच्छा ही हुआ कि देशबन्धु स्वर्गलोक सिधार गये हैं । फिलिस सरकस का विवरण उन्हें यंग इंडिया के पन्नों में नहीं देखना पड़ा ।

सुना है राष्ट्रीय प्रतिष्ठान कांग्रेस में इस बार नेहरू रिपोर्ट पास हो गया है । बहु प्रकार के छलों से भरा हुआ वह आवेदन अन्त में विलायत की पार्लियामेंट में पेश किया गया है । अब वे ही एक प्रकार से भारत के भाग्य विधाता हैं तो थे ही । पर कहा जाता है कि इस बार की पार्लियामेंट महिलाओं के आदेशानुसार बनी है । अतएव अब यही एक प्रकार से भारत के भाग्य विधाता हैं । कहावत है महिलायें दयामयी होती हैं । अब अगर वे इस देश के अभागे पुरुषों पर कहीं कुछ दया करें ।

वर्तमान राजनीतिक प्रसंग

कांग्रेस ने गल्ती की है, इस तरह का एक चीत्कार कुछ दिनों से सुन रहा हूं। इस कोलाहल में कितना सत्य है, इस बात पर विचार नहीं किया गया है।

मैं खुद कभी अचानक किसी विषय पर धारणा नहीं बना पाता हूँ। जो बुलन्द आवाज में प्रचार करते हैं कि उन्हीं की माँग प्रबल है, उनकी बात भी मैं आसानी से स्वीकार नहीं कर लेता हूँ। इसीलिये कांग्रेस के विरुद्ध इस तर्कहीन निन्दा-प्रचार को मेरे लिये मान लेना कठिन है।

जो इस नये आन्दोलन के अगुआ हैं, उन्हें एक-निष्ठ प्रवीण कार्यकर्ता के रूप में श्रद्धा करता हूं। देश की राजनीतिक साधना के इतिहास में उनकी देन को भी कम नहीं समझता। लेकिन देश के प्रति उनका दुःख-बोध कांग्रेस से भी अधिक है, इस बात को सिद्ध करने के लिये किसी नये दल के बनाने की आवश्यकता शायद नहीं थी। कांग्रेस सदा से साम्प्रदायिक विभेद के खिलाफ लड़ती आई है, आज उसे छोटी सिद्ध करने की चेष्टा से किसी का व्यक्तिगत-गौरव कुछ बढ़ा है या नहीं हम नहीं जानते। लेकिन शायद देश का रंचमात्र भी नहीं बढ़ा है।

देश-सेवा नामक वस्तु जब तक धर्म नहीं बन जाती है, तब तक उसके अन्दर कुछ धोखा रह जाता है इस बात को मैं प्रतिदिन भलीभाँति अनुभव कर रहा हूँ। मेरा धर्म जब देश से ऊपर हो जाता है तभी मुसीबत पैदा होती है महात्मा जानते हैं और वर्किङ्ग कमेटी भी जानती है कि उन्होंने भूल नहीं की है। मालवीय जी और अणे के विरोध ने महात्मा को विचलित नहीं किया अतएव अगर वह कांग्रेस

से नाता तोड़ ही लेते हैं, तो उससे इस गड़बड़ी का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। उन्हें वास्तविक डर है सोशिलिज्म से। उनको घेरे हुए हैं धनिक लोग, व्यापारिक लोग। समाजवादियों को वह कैसे ग्रहण करें? यहाँ भी महात्मा की कमजोरी को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

एक बात को मैं जानता हूं कि बंगाल के मुसलमान भी संयुक्त निर्वाचन माँगने लगे हैं। नहीं तो त्रुटि कहाँ है इसे वे जानते है। इस बात को भूलने से काम नहीं चलेगा कि अधिकांश धनी, मुसलमान, मैनेजर, गुमाश्ता, वकील, डाक्टर की हैसियत से अपनी जाति से हिन्दुओं पर अधिक विश्वास करते हैं। साथ ही मैं यह भी कहता कि प्रत्येक हिन्दू ही तनमन से राष्ट्रीय वादी हैं। धार्मिक विश्वास में भी वे किसी से छोटे नहीं। उनके वेद, उनके उपनिषद बहुतेरे मनुष्यों की तपस्या के फल है। तपस्या का अर्थ होता है विचार। बहुजन की बहुतेरी चिन्ताओं के फलस्वरूप धर्म का निर्माण हुआ है। विधान सभा में थोड़े से आसनों के कम होने की आशंका से उसके सर्वनाश का भय दिखाने की शायद आवश्यकता नहीं थी।

(नागरिक, दशहरा अंक १३४१)

महात्मा का पद-त्याग

खबर आयी है कि महात्मा गांधी ने कांग्रेस का नेतत्व छोड़ दिया है। यह खबर आकस्मिक नहीं है, कुछ दिनों से इस तरह की एक संभावना हवा में तैर रही थी। महात्मा राजनीति के प्रवाह मे अपने को अलग करके अपने विशाल व्यक्तित्व, विराट कार्य शक्ति और एकाग्र चित्त को भारत की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक समस्या के समाधान में नियोजित करेंगे। हुआ यही। देखा गया है कि राष्ट्रीय महासभा के सभामंडप में बहुतेरे कार्यकर्ता, बहुतेरे भक्त, बहुतेरे मित्रों का आवेदन, निवेदन, अनुनय, विनय उन्हें अपने संकल्प से डिगा नहीं सका। डिगाने की बात भी नहीं। कितनी ही बार कितनी ही विषयों में सिद्ध हो गया है कि अश्रधारा की प्रबलता से महात्मा जी को कभी विचलित नहीं किया जा सकता। क्योंकि अपने तर्क और बुद्धि से बढ़कर संसार में और कोई वस्तु है, इसे शायद वे सोच ही नहीं सकते थे। लकिन मैं यह भी नहीं कहता कि यह बुद्धि मामूली या साधारण है। यह बुद्धि असामान्य असाधारण है। अनुरागियों के ढक रखने के कोशिशों के बावजूद इस बुद्धि ने अन्त में उनके सामने यह सत्य उद्घाटित कर ही दिया है कि कांग्रेस में उनकी आवश्यकता कम से कम फिलहाल समाप्त हो गयी है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि उनके दुस्सह प्रभुत्व के कारण जो लोग अपने को उत्पीड़ित, लांछित समझते हैं महात्मा के विचार और कार्य-पद्धति को अनुसरण करने में पग-पग पर आगा-पीछा करते रहे हैं, नेपथ्य में जिनकी शिकायतों का अन्त नहीं था उन्हें भी इस बात को खुलेआम कहने की हिम्मत नहीं हुई। बल्कि नाना प्रकार से उनका प्रसाद पाने के लिये प्रयत्न पूर्वक उस नेतृत्व पर ही उन्हें प्रतिष्ठित

रखने की जी तोड़ चेष्टा की है। शायद उन्हें इस बात का डर है कि इतने बड़े भारतवर्ष में नेतृत्व करने के लिये उन्हें दूसरा आदमी नहीं मिलेगा। लकिन मिलने पर भी मैं यह कहूँगा कि जहाँ स्वतन्त्र चिन्तन, स्वतन्त्र कथन, स्वतन्त्र मत ने बार-बार प्रतिरुद्ध होकर राष्ट्रीय महासमिति को एक प्रकार से पंगु कर दिया है, वहाँ महात्मा का अथवा और किसी का निरवच्छिन्न सार्वभौम आधिपत्य कल्याणकारी नहीं है।

आज महात्मा के मत, पथ और तर्क की आलोचना नहीं करूँगा। चरखा देश की अवनति को रोक सकता है कि नहीं, भद्र अवज्ञा से देश की राजनीतिक स्वतंत्रता आ सकती है या नहीं। भद्र अवज्ञा-आन्दोलन का अन्तिम परिणाम क्या है, इन प्रश्नों को आज नहीं लूंगा। लेकिन महात्मा की इस माँग को सत्य मानता हूँ कि उनके दिखाये रास्ते से भारत क्षतिग्रस्त नहीं हुआ है।

किसी जमाने में कांग्रेस आवेदन, निवेदन, अभियोग, अनुयोग की लम्बी तालिका प्रस्तुत करके अपना कर्तव्य समाप्त कर देती थी। बंगभंग के दिनों में भी राष्ट्रीय महासमिति बंगको अपना अंग नहीं सोच पाती थी।

बंगाल का प्रश्न केवल मात्र बंगालियों का ही प्रश्न था। बम्बई, अहमदाबाद, बंगालियों के हाथों एक पये का कपड़ा चार रुपये में बेचते थे। कांग्रेस लाचार हो आश्चर्य से सिर्फ देखती रहती थी। लेकिन इस विच्छिन्न, अक्षय राष्ट्रीय महासमितिको अपने अदम्य, अकपट, विश्वास के जोर से महात्मा ने समग्रता ला दी। शक्ति प्रदान की, प्राण का संचार किया। उनके इस देन को ही कृतज्ञ हृदय से स्मरण करूँगा। आगे चलकर हो सकता है उनका मत और पथ दोनों परिवर्तित हों, उनके चलाये आदर्श का शायद चिह्न भी न रहे, फिर भी वह जो कुछ दे गये वह सारे परिवर्तन के

बीच भी अमर रहेगा, पराधीनता से मुक्त भारत उनके ऋण को कभी नहीं भूलेगा, आज कांग्रेस से वह बाहर हो आये हैं। लेकिन उसे छोड़ा नहीं है। छोड़ने की सूरत भी नहीं है। जिस शिशु को उन्होंने लालन-पालन किया है वह बड़ा हुआ है। इसीलिय आज अपने कठोर शासन से महात्माजी ने स्वेच्छा से उसे मुक्त कर दिया। इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है। मुझे आशा है कि इस मुक्ति से दोनों का कल्याण होगा।

किशलय, द्वितीय वर्ष, प्रथम खंड, छठवां अंक, आश्विन १३४४।

साम्प्रदायिक बंटवारा (१)

आज जिन्होंने बंगाल के हिंदुओं का यह सम्मेलन बुलाया है मैं उनमें से एक हूँ। यह विशाल सभा केवल मात्र इस नगर के नागरिकों की ही नहीं है। आज जो लोग एकत्र हुए हैं, वे बंगाल के विभिन्न जिलों के निवासी हैं, सभी का वर्ण शायद एक नहीं है। लेकिन भाषा एक है, साहित्य एक है, धर्म एक है, गुजर-बसर की प्रारम्भिक बात भी एक है। विश्वास में जो निष्ठा हमारे इस लोक-परलोक को नियंत्रित करती है वहां भी हम एक दूसरे के गैर नहीं है। पराया समझने के नाना उपायों, नाना कौशलों के बावजूद हम आज भी एक हैं। युग-युगान्त से जिस बंधन ने हमें बना रखा है, वास्तव में वह आज भी विच्छिन्न नहीं हो गया है।

बंगाल की समग्र हिन्दू जाति की ओर से लोग इस सभा के आयोजनकारी हैं उनकी ओर से मैं सविनय और ससम्मान रवीन्द्रनाथ का आह्वान करता हूँ, इस विशाल सभा का नेतृत्व ग्रहण करने के लिये।

सभापति का परिचय देने की एक प्रथा है। लेकिन रवीन्द्रनाथ के विराट नाम के आगे-पीछे परिचय का कौन-सा विशेषण जोड़ा जा सकता है? विश्वकवि सार्वभौम आदि लोगों ने पहले ही जोड़ दिया है, लेकिन हम जो उनके शिष्य सेवक हैं, अपने अन्दर केवल कवि का ही उल्लेख करते हैं। बाहर रवीन्द्रनाथ कहते हैं। जानता हूँ सभ्य ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक इस व्यक्ति को समझने में किसी को कोई असुविधा नहीं होगी। कवि का क्लान्त-शरीर दुर्बल, अवसन्न है। इस विशाल जनता के बीच उन्हें लाना खतरे से खाली नहीं है। फिर भी हमने उनसे अनुरोध किया है। मन

ही मन इच्छा थी कि यह बात किसी से छिपी न रहे कि इस सभा का नेतृत्व किसने ग्रहण किया ? कवि ने स्वीकार किया कहा अच्छी बात है। उनका कथन उन्हीं के मुंह से व्यक्त हो। उन्हें आप लोगों के सकृतज्ञ हृदय का नमस्कार निवेदन करता हूँ।

विलायत के मंत्रीगण बहुत दिनों से बड़ी सावधानी से भारत शासन के लिये नयी मशीन बना रहे हैं। जहाज पर लद चुकी है। आ पहुँचने ही वाली है। उसके कितने छोटे-बड़े पहिये हैं कितने दण्ड हैं, कितने पुर्जे हैं, कौन किस ओर घूमता-फिरता है, किस तरफ आगे बढ़ता है, हममें से कोई ठीक-ठीक नहीं जानता। और अन्त तक उसका कितना मूल्य देना पड़ेगा इसकी धारणा भी किसी को नहीं है। जब मशीन बन रही थी, तब बीच-बीच में केवल खबर आती थी कि अकल देने के लिये इस देश से उस देश में बहुत से बुद्धिमान चालान गये हैं, उन्होंने कौन-सा सुझाव दिया, उस सूक्ष्म तत्व को हम साधारण लोग नहीं समझते। हम लोग केवल यही समझ सके थे कि एक पक्ष ने जोर से चिल्लाकर कहा था कि नये मशीन की उसे जरूरत नहीं और दूसरे पक्ष ने धमका कर कहा था कि नये की अलबत जरूरत है, चिल्लाओ मत। अतएव अन्ततक स्वीकार करना ही पड़ा कि जरूरत है। बहुतों की धारणा है कि वह ईख पेरने की मशीन की तरह बहुत बड़ी है। उसके एक ओर से रस निकलेगा और दूसरी ओर खुइया भी होगा। रस संचित होकर कहाँ जायगा यह प्रश्न केवल फिजूल ही नहीं शायद अवैध भी है। भय भी है फिर भी प्रश्न किया जा सकता है, राष्ट्र-व्यवस्था में क्या धर्म विश्वास ही सबसे बड़ी वस्तु बन गई ? और मनुष्य हो गया छोटा ? जो व्यवस्था संसार में कहीं नहीं है जिससे कहीं भी कल्याण नहीं हुआ, वही इस अभागे देश में विशेष और विचित्र परिस्थिति बन

गया। और उसे नाबालिगों के ट्रस्टियों के सिवा और कोई नहीं समझता।

लेकिन यह राजनीति है। इसकी आलोचना का भार मेरे ऊपर नहीं है। इस विषय में जो लोग जानकार हैं, वे ही इसे समझा देने के योग्य-मात्र हैं। मैं नहीं।

फिर भी अन्त में एक बात कह दूं। किसी की धारणा है कि हम ने न्याय की आशा से विलायत स्मारक-पत्र भेजा है, हम में से किसी को यह विश्वास नहीं है, हमने अन्याय का प्रतिवाद भेजा है। नया शासन-विधान शुरु से आखिर तक खराब है, उस असीम खराबी के अन्दर बंगाल के हिन्दू सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुये हैं, कानून की कील ठोककर उन्हें सदा के लिये छोटा कर दिया गया है। फिर भी यह सच है कि देश के मुसलमान भाइयों को दस पन्द्रह अधिक स्थान मिले हैं, इससे उनके प्रति हमारे अन्दर क्रोध नहीं है। लेकिन जो लोग इस अन्याय के जनक हैं, उनसे कहना चाहता हूँ कि अन्याय, अविचार एक आदमी के प्रति होने पर भी वह अकल्याणकर है, उससे अन्ततक मुसलमान, हिन्दू, जन्म-भूमि किसी का कल्याण नहीं होगा।

१५ जुलाई १९३६ में कलकत्ता टाउनहाल में साम्प्रदायिक बंटवारे के विरुद्ध होनेवाली सभा का उद्घाटन-भाषण, (वातायन श्रावण, १३४३)

साम्प्रदायिक बंटवारा (२)

नये शासन विधान में भारतवर्ष के हिन्दू, विशेषकर बंगाल के हिन्दुओं के प्रति जो अविचार किया गया है, इतना बड़ा अविचार दूसरा नहीं हो सकता। बहुतेरे लोग यह सोच सकते हैं कि इस अविचार के प्रतिवाद करने की क्षमता हमारे हाथ में नहीं है और यही सोचकर वे निश्चेष्ट रहेंगे, प्रतिवाद नहीं करेंगे। लेकिन यह सच नहीं है। लेकिन अगर इस अन्याय को रोकने की क्षमता किसी में है तो हमी में है।

अपने सामर्थ्य के अनुसार मैं आजन्म साहित्य सेवा करता आ रहा है। इस असामयिक देश का साहित्य बड़ा हो, और इस आशा में ही साहित्य के कार्यों में, देश के कार्यों में अपने को संपूर्ण रूप से नियुक्त किया है। लेकिन अब ऐसी हालत हो चली है कि मुझे भय है कि शायद दस वर्षों में साहित्य का एक दूसरा युग आ जायगा। शायद तब मैं नहीं होऊंगा। इसीलिये अभी से उस हालत की बात सोचकर शंकित हो गया हूँ। बंगला साहित्य को विकृत करने की एक हीन-प्रचेष्टा चल रही है, कोई कह रहा है कि संख्या के अनुपात में भाषा के अन्दर इतने अरबी शब्दों का व्यवहार करें। कोई कह रहा है इतने फ़ारसी शब्द व्यवहार करें। और कोई कह रहा है कि इतने उर्दू शब्द व्यवहार करें, इसका कोई कारण नहीं है। जैसे छोटे बच्चे के हाथ में चाकू पड़ते ही वह घर की सारी चीजों को काटता फिरता है यह भी वैसा ही है।

इसके बाद हम लोगों पर, हिन्दुओं पर इतना बड़ा अविचार हुआ इसे जानकर भी चुप रहे। यही सबसे बड़े दुख की बात है। इस बात को क्या वे नहीं समझते हैं कि यह जहर यह क्षोभ

जो हिन्दुओं के मन में संचय हुआ वह किसी न किसी दिन प्रकट होगा ही। इसकी एक प्रतिक्रिया है, इसे भी क्या वह नहीं सोचते हैं। इस तरह से देश का काम नहीं चल सकता, एक जाति जिन्दा नहीं रह सकती। यह तो उनकी भी जन्मभूमि है। देखिये, केवल कह देने से ही काम नहीं चलता है ग्रहण करने की बोलने की शक्ति भी एक शक्ति है। आज अगर वे समझते हैं कि वृटिश सरकार ने उन्हें दे दिया, इसी लिये मिला। एक दिन वे समझेंगे कि यह कितनी बड़ी भूल है।

मैं अपने मुसलमान भाइयों से कहता हूँ कि तुम लोग संस्कृति पर नजर रखना, साहित्य पर नजर रखना। छोटे बच्चों की तरह हाथ में तेज चाकू पाकर सब कुछ काट मत डालना।

मेरा मत है कि अन्याय को स्वीकार नहीं करना चाहिये, यथा-साध्य प्रतिकार करना चाहिये। इसी से मनुष्य बनता है हमारे ऊपर यह जो अन्याय हो रहा है उसका प्रतिकार करना ही होगा। अगर नहीं कर सकते तो दस साल के वाद बंगाली आज जिस बात को लेकर गौरव करते हैं, उसका कुछ भी नहीं रहेगा। इसलिये मेरी तुच्छ शक्ति से जितना बन पड़ेगा मैं इस अन्याय का प्रतिवाद करूंगा। क्योंकि इस अन्याय को चलने दिया जाय तो देशके हिन्दू मुसलमान किसीका का कल्याण नहीं होगा।

साम्प्रदायिक फैसले के प्रतिवाद मे कलकत्ते के एडवड हाल में होनेवाली सभा के सभापति का भाषण। वातायन, १६ श्रावण १३४३

परिशिष्ट

शरत्चन्द्र के जीवन की संक्षिप्त घटना-पंजिका

१८७६–९२	जन्म १५ सितम्बर १८७६, हुगली जिले के देवानन्दपुर ग्राम में—पिता—मतिलाल चट्टोपाध्याय। देवानन्दपुर शरत्चन्द्र के पिता का ननिहाल था। पिता ने सोलह-सत्तरह साल की उम्र में ब्याह किया भागलपुर बंगालीटोला निवासी केदारनाथ गंगोपाध्याय की कन्या भुवनमोहिनी देवी से। ससुराल में रहकर भागलपुर हाई इंगलिश स्कूल से १८७३ में तीसरे विभाग में उन्होंने एन्ट्रेंस परीक्षा पास की। १८७६ में मतिलाल के ननिहाल देवानन्दपुर में उनके ज्येष्ठ पुत्र शरत्चन्द्र का जन्म हुआ।
१८७७–८५	यहीं शरत्चन्द्र का बचपन बीता। गाँव की पाठशाला में उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा पाई। उनका पुकार का नाम था 'न्याड़ा'।
१८८६	शरत्चन्द्र का ननिहाल जाना।
१८८७	भागलपुर में छात्रवृत्ति की परीक्षा पास करना और टी० एन० कालेजियेट स्कल में भर्ती होना।
१८९१	देवानन्दपुर आना।
१८९३	हुगली ब्रांच स्कूल में नवीं क्लास में भर्ती होना।

साहित्य साधना का सूत्रपात

१८९४	हुगली ब्राञ्च स्कूल में दसवीं क्लास में पढ़ते समय भागलपुर जाना और टी० एन० जुबिली कालेजियेट स्कूल में फिर से भर्ती होना। वहीं से दूसरे विभाग में एन्ट्रेंस की परीक्षा

पास करना। भागलपुर में साहित्य-सभा बनाना और उसका नेतृत्व करना। भागलपुर की साहित्य-सभा का हस्तलिखित मासिक मुख-पत्र 'छाया' निकालना। प्रारंभिक युग की कहानियाँ और उपन्यास---अभिमान (अप्रकाशित), बड़ दिदि, चन्द्रनाथ, देवदास, शुभदा आदि लिखना। माता की मृत्यु। टी० एन० जुबिली कालेज में एफ० ए० की पढ़ाई बन्द। प्रतिष्ठित वकील शिवचन्द्र वन्द्योपाध्याय के पुत्र सतीशचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित आदमपुर क्लब के उत्साही सदस्य। 'मृणालिनी', 'बिल्वमंगल' में चिन्तामणि और जना की भूमिका अभिनय कर क्लब के नाटच-विभाग की प्रतिष्ठा बढ़ाना।

१६०० घर से गायब और साधुओं के वेष में देश-भ्रमण।

१६०२ मुजफ्फरपुर में रहना।

१६०३ पिता की मृत्यु। नौकरी की तलाश में रिश्ते में मामा लालमोहन गंगोपाध्याय के घर आना (भवानीपुर, कलकत्ता)। 'कुन्तलीन पुरस्कार' प्रतियोगिता के लिये छद्म नाम से कहानी भेजना और इसके बाद ही जीविका की तलाश में गुप्तरूप से बर्मा के लिये रवाना होना। 'कुन्तलीन पुरस्कार १३०६' (बंगाब्द) पुस्तक में 'मंदिर' कहानी प्रकाशित होना और इसके लिये प्रथम पुरस्कार पाना (यही शरत्चन्द्र की पहली मुद्रित रचना है)।

१६०७ 'भारती' पत्रिका में बैसाख-असाढ़ १३१४ बंगाब्द में 'बड़ दिदि' उपन्यास प्रकाशित। मासिक पत्र में प्रकाशित यही उनकी प्रथम रचना है।

१६१२ रंगून के डिप्टी एकाउन्टेन्ट जनरल के दफ्तर में काम करते समय नाते के मामा उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय की मध्यस्थता से फणीन्द्रनाथ पाल द्वारा प्रकाशित 'यमुना' में लिखने का

संकल्प। यमुना में कम उम्र में लिखी 'बोझा' कहानी प्रकाशित होना। अक्तूबर-दिसम्बर में थोड़े दिनों के लिये रंगून से कलकत्ता आना।

१९१३ 'साहित्य' पत्रिका में 'बाल्य-स्मृति', 'काशीनाथ' और 'यमुना' में नई रचना 'राम की सुमति', 'पथ-निर्देश' और 'विन्दु का लड़का' कहानियाँ प्रकाशित। सितम्बर में 'यमुना' संपादक द्वारा 'बड़ी दीदी' प्रकाशित करना।

दिसम्बर में 'भारतवर्ष' मासिक पत्रिका में 'विराज बहू' प्रकाशित।

१९१४ 'भारतवर्ष' पत्रिका के मालिक गुरुदास वन्द्योपाध्याय एण्ड सन्स द्वारा 'विराजबहू' प्रकाशित।

जून—असाढ़ १३२१ की 'यमुना' में मुद्रित सूचना:— "यमुना के पाठकों को सुनकर शायद प्रसन्नता होगी कि सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी लेखक श्रीयुत शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय महाशय इस महीने से 'यमुना' के सम्पादन में योगदान कर रहे हैं।" 'यमुना' के श्रावन वाले अंक में अन्यतम संपादक के रूप में नाम प्रकाशित।

जुलाई—'विन्दु का लड़का' और दूसरी कहानियाँ पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित।

दिसम्बर—थोड़े दिनों के लिये रंगून से कलकत्ता आना।

१९१५ 'भारतवर्ष' पत्रिका के अन्यतम मालिक श्री हरिदास चट्टोपाध्याय का पत्र लिखकर सौ रूपये मासिक आमदनी का वचन देना और शरतचन्द्र का साल भर की छुट्टी लेकर इलाज के लिये कलकत्ता आना।

बाजेशिवपुर (हावड़ा) में रहना। कुछ वर्षों के बाद विशेषतः १९२१-२२ में बड़े उत्साह से कांग्रेस के काम में जुटना।

१४ जुलाई १६२२ को हावड़ा जिला कांग्रेस कमेटी के सभापतित्व से इस्तीफा देना ।

१६२३ कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा 'जगत्तारिणी स्वर्ण-पदक' देकर सम्मानित करना ।

१६२५ १०-११ अप्रैल को मुंशीगंज (ढाका) में होनेवाले 'बंगीय साहित्य सम्मेलन' के साहित्य-विभाग का सभापतित्व । पानित्रास (जिला हवड़ा) में रूपनारायण नद के तीर पर घर बनाना ।

१६२८ ५३ वीं वर्षगांठ के मौके पर यूनिवर्सिटी इन्स्टीटयूट (कलकत्ता) में देशवासियों द्वारा अभिनन्दित होना ।

१६३४ बंगीय साहित्य परिषद (स्थापित १८६३ ई०) का 'विशिष्ट सदस्य' निर्वाचित होना । दक्खिन कलकत्ता के अश्विनीदत्त रोड पर अपना मकान बनवाना ।

१६३६ ढाका विश्वविद्यालय द्वारा सम्मानार्थ 'डी० लिट्' उपाधि दान ।

१६३६ पार्क नरसिंह होम (कलकत्ता) में १६ जनवरी को मृत्यु ।

कालानुक्रमिक शरत् ग्रन्थ-सूची

सितम्बर	१६१३	बड़ दिदि	(उपन्यास)
मई	१६१४	विराज बौ	(उपन्यास)
जुलाई	,,	बिन्दुर छेले ओ अन्याय गल्प	(कहानि संग्रह)
अगस्त	,,	परिणीता	(कहानी)
सितम्बर	,,	पंडित मशाइ	(उपन्यास)
दिसम्बर	१६१५	मेजो दिदि ओ अन्यान्य गल्प	(कहानी-संग्रह)
जनवरी	१६१६	पल्ली-समाज	(उपन्यास)
मार्च	,,	चन्द्रनाथ	(उपन्यास)
जून	,,	बैकुन्ठेर विल	(कहानी)
नवम्बर	,,	अरक्षणीया	(कहानी)
फरवरी	१६१७	श्रीकान्त, प्रथम पर्व	(उपन्यास)
जून	,,	देवदास	(उपन्यास)
जुलाई	,,	निष्कृति	(कहानी)
सितम्बर	,,	काशीनाथ	(कहानी-संग्रह)
नवम्बर	,,	चरित्रहीन	(उपन्यास)
फरवरी	१६१८	स्वामी	(कहानी-संग्रह)
२ सितम्बर	,,	दत्ता	(उपन्यास)
२४ सितम्बर	,,	श्रीकान्त, द्वितीय पर्व	(उपन्यास)
जनवरी	१६२०	छबि	(कहानी-संग्रह)
मार्च	,,	गृहदाह	(उपन्यास)
अक्टूबर	१६२०	बामुनेर मेये	(उपन्यास)
अप्रैल	१६२३	नारीर मूल्य	(निबंध)
अगस्त	,,	देना-पावना	(उपन्यास)
अक्टूबर	१६२४	नव-विधान	(उपन्यास)
मार्च	१६२६	हरिलक्ष्मी	(कहानी-संग्रह)

अगस्त	,,	पथेर दावी	(उपन्यास)
अप्रैल	१९२७	श्रीकान्त, तृतीय पर्व	(उपन्यास)
अगस्त	,,	षोड़शी	(देना-पावना का नाट्य रूप)
अगस्त	१९२८	रमा	(पल्ली समाज का नाट्य रूप)
अप्रैल	१९२९	तरुणेर विद्रोह	(भाषण)
मई	१९३१	शेष प्रश्न	(उपन्यास)
अगस्त	१९३२	स्वदेश ओ साहित्य	(भाषण-निबंध)
मार्च	१९३३	श्रीकान्त, चतुर्थ पर्व	(उपन्यास)
मार्च	१९३४	अनुराधा, सती ओ परेश	(कहानी-संग्रह)
अगस्त	,,	विराज बौ	(नाट्य रूप)
दिसम्बर	,,	विजया	(दत्ताका नाट्य रूप)
फरवरी	१९३५	विप्रदास	

मत्यु के बाद प्रकाशित

मार्च	१९३८	शरत्चन्द्र ओ छात्र समाज	(भाषण-संग्रह)
अप्रैल	,,	छेले बेलार गल्प	(बच्चों के लिये कहानी-संग्रह)
जून	१९३८	शुभदा	(उपन्यास)
जून	१९३९	शेषेर परिचय	(उपन्यास)
फरवरी	१९४८	शरत्चन्द्रेर पत्रावली	
	१९५१	शरत्चन्द्रेर पुस्तकाकारे अप्रकाशित रचनावली	